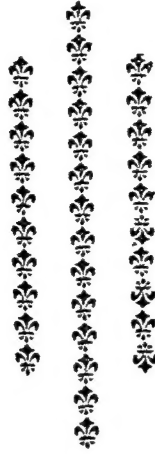
प्रथमावृत्ति वि. संवत् २०२४ वीर नि. सं. २४९४

प्रतियाँ २१००

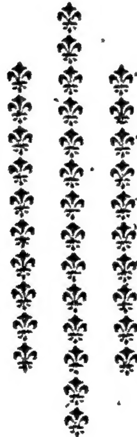
द्वितीयावृत्ति वि. २०३१ वीर नि. सं. २५०१

प्रतियाँ ११००



मूल्य :

३ = ००



—: मुद्रक :—

मगनलाल जैन

अजित मुद्रणालय

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

# अर्पण

सम्यक्त्वधारी सन्त तुम हो
श्री जिनवरके नन्द;
श्रावक हे जिनधर्म-उपासक
जिनशासनके चन्द ।
मुनि वनोगे निकट कालमें
होगा केवलज्ञान;
उपदेश देकर दोगे हरिको
रत्नत्रयका दान ॥

—ऐसे शुद्ध श्रावकधर्म-उपासक धर्मात्माओंको परम वहुमानके साथ यह पुस्तक अर्पण करता हूँ ।

—हरि



नमः श्री वर्द्धमानाय

# प्रकाशकीय निवेदन

'श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिका' के 'देशव्रतोद्योतन' अधिकार पर परम पूज्य आत्मज्ञ संत श्री कानजी स्वामीने अत्यन्त भाववाही प्रवचन किये इसलिये उनका हम हार्दिक अभिवादन करते हैं। उन प्रवचनोंका सुन्दर संकलन ब्र. हरिभाईने किया और वे गुजरातीमें पुस्तकाकार प्रकाशित हुए, उसका हिन्दी अनुवाद प्रगट करते हुए अत्यंत हर्ष होता है।

इस पुस्तकके अनुवादक श्री सोनचरणजी दि० जैनसमाज सनावदके एक सुप्रतिष्ठित व्यक्ति तथा अध्यात्मरसिक, सरल और गम्भीर महानुभाव हैं। सोनगढ साहित्यके प्रति उनकी विशेष रुचि है। सनावदकी अनेक संस्थाओंके वे सदस्य हैं और कपड़ेके व्यापारी भी हैं।

दूसरे अनुवादक श्री प्रेमचंदजी जैन M. Com. हैं, और सनावदके श्री भयाचंद दिगम्बर जैन उच्चतर विद्यालयमें व्याख्याता हैं। वे भी सोनगढ साहित्यके प्रति विशेष प्रेम रखते हैं।

उपरोक्त दोनों महानुभावोंने इस हिन्दी अनुवादको अत्यन्त उल्लासपूर्वक और बिलकुल निस्पृहभावसे तैयार कर दिया है। इसलिए उनको धन्यवाद देनेके साथ उनका उपकार मानते हैं।

अनुवादका संशोधन-कार्य श्री पं० मूलचन्दजी शास्त्री सनावद तथा श्री पं० बंशीधरजी शास्त्री M. A. कलकत्ता वालोंने कर दिया है। तथा जतीशचन्द्रजी सनावद वालोंने प्रकाशनके सम्बन्धमें अनेक प्रकारसे सहायता की है इसलिए उनका अन्तःकरण पूर्वक आभार मानते हैं।

अजित मुद्रणालयके मालिक श्री मगनलालजी जैनने इस पुस्तकका मुद्रणकार्य सुन्दर ढंगसे कर दिया है अतः उनका आभार मानते हैं।

इन प्रवचनोंमें श्रावकके कर्त्तव्यका जो स्वरूप अत्यन्त स्पष्टरूपसे पूज्य गुरुदेवने दर्शाया है उसका अनुसरण करनेके लिये हम सब निरन्तर प्रयत्नशील रहें...यही भावना।

आश्विन शुक्ला पूर्णिमा
वीर सं. २४९४

साहित्य प्रकाशन समिति,
श्री दि. जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ (सौराष्ट्र)

# —: निवेदन :—

'श्रावक' अर्थात् मुनिका लघुभ्राता। उसका जीवन भी कैसा पवित्र आदर्शरूप और महान है वह इन प्रवचनोंको पढ़ने पर समझमें आयेगा। इस पुस्तकमें श्रावकके धर्मोंका सर्वांग सुन्दर वर्णन है। गृहस्थदशामें रहनेवाले श्रावक भी मोक्षमार्गमें गमन करते हैं। ऐसे श्रावकका धर्माचरण कैसा होता है उसका विस्तृत वर्णन करते हुए प्रथम तो 'सर्वज्ञकी श्रद्धा' होना बतलाया है। साथ ही उसकी शुद्धदृष्टि कैसी हो और व्यवहार-आचरण कैसा हो तथा पूजा-भक्ति, दया-दान, साधर्मीप्रेम, स्वाध्याय इत्यादिके परिणाम कैसे हों? इसका भी विस्तृत वर्णन किया है।

निश्चयके साथ सुसंगत व्यवहारका इतना सुन्दर स्पष्ट, भावभरा उपदेश श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार जैसे प्राचीन ग्रंथोंके अतिरिक्त आधुनिक साहित्यमें देखनेको नहीं मिलता। इस शैलीके प्रवचनोंका यह प्रथम ही प्रकाशन है। गृहस्थ श्रावकोंके धर्म-कर्त्तव्यका इसमें विस्तृत उपदेश होनेसे सबके लिये उपयोगी हैं। श्रावकधर्मका ऐसा सुन्दर वर्णन भावसे पढ़नेवालेको ऐसी ऊर्मियाँ जागृत होती हैं-मानों स्वयं ही उस धर्मका आचरण कर रहा हो, आहारदानका वर्णन पढ़ते समय मानों स्वयं ही मुनिवरोंको भक्तिसे आहार दे रहा हो। जिनप्रतिमाका वर्णन पढ़ते समय मानों स्वयं ही प्रतिमाजीकी स्थापना या पूजन कर रहा हो ऐसे भाव जागृत होते हैं। दानका वर्णन पढ़ने पर तो निर्लोभतासे हृदय एकदम प्रसन्न हो उठता है, और देव-गुरुकी भक्तिका वर्णन पढ़ते समय तो मानों हम संसारको भूल ही जाते हैं और जीवन देव-गुरुमय बन जाता है। तदुपरान्त साधर्मीके प्रति वात्सल्य इत्यादिका वर्णन भी धार्मिक प्रेमकी पुष्टि करता है। सर्वज्ञदेवकी पहिचान और प्रतीति तो सम्पूर्ण पुस्तकमें प्रारम्भसे अंत तक व्यक्त की हुई है।

इस श्रावकधर्मके प्रवचनकार पू. श्री कानजीस्वामीका मेरे जीवनमें परम उपकार है। २५ वर्षसे पू. गुरुदेवकी मंगल-छायामें निरन्तर रहनेके सुयोगसे और उनकी कृपासे मेरे जीवनमें जो महान लाभ हुआ है, इसके उपरांत पू. गुरुदेवके अनेक प्रवचन लिखनेका और उनको ग्रंथारूढ़ करनेका सुयोग मुझे मिला है, उसको मैं मेरे जीवनमें महद् सद्-भाग्य मानता हूँ...और इसी प्रकार सदैव गुरुदेवकी मंगल चरणसेवा करता हुआ आत्म-हितकी साधना करूँ और शुद्ध श्रावकधर्मके पालनका मुझे शीघ्र अवसर मिले ऐसी भावना भाता हूँ।

जयजिनेन्द्र

वीर सं. २४९५ आसो सुद १
सोनगढ़

—ब्र. हरिलाल जैन

श्री वीतरागाय नमः

# अनुवादकोंकी ओरसे

श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव विरचित जैन-साहित्यकी सर्व-विख्यात एवं अनुपम कृति "पद्मनन्दि पंचविंशतिका" के सातवें अधिकार "देशव्रतउद्योतन" पर पूज्य आत्मज्ञ संत श्री कानजीस्वामी द्वारा दिये गए प्रवचनोंका संग्रह "श्रावकधर्मप्रकाश" (गुजराती) देखनेका सौभाग्य मिला। इस अनुपम संग्रहका लाभ हिन्दीभाषी मुमुक्षु भाई-बहिनोंको प्राप्त हो इस भावनासे इसका अनुवाद हिन्दीमें करनेका भाव हुआ। श्रावकोंको प्रतिदिनके छह कर्तव्यों (षट् आवश्यकों) के परिज्ञानकी आवश्यकता है। स्वामीजीके इन सुबोध प्रवचनोंसे इन कर्तव्योंका ज्ञान सहज ही हो जाता है। इस ग्रन्थके अनुवाद-कार्यमें हमें सोनगढ़ साहित्य प्रकाशन समितिकी ओरसे पूर्ण सहयोग व मार्ग-दर्शन मिलता रहा जिसके लिए हम आभारी हैं।

अनुवादमें कहीं भी मूल गुजराती पुस्तकके भावमें अन्तर न पड़े इसका पूरा ध्यान रखनेका प्रयत्न किया है, तथापि प्रमाद एवं अज्ञानवश जो त्रुटियाँ रह गई हों उन्हें सुहृद पाठक-जन पूर्वापर प्रसंगके आधार पर सही करते हुए हम पर कृपाभाव रखेंगे ऐसी आशा है।

अंतमें पुनः पुनः सत्पुरुष आत्मज्ञ संत पू. गुरुदेव श्री कानजीस्वामीका हम उपकार मानते हैं जिनके परम प्रभावसे हमें यह सत्प्रेरणा प्राप्त हुई। इत्यलम्।

दि. १० सित. १९६८
सनावद (म. प्र.)

संतचरण सेवी—
—सोनचरण जैन
—प्रेमचंद जैन M. Com.



# अनुक्रमणिका

| क्रम | विषय | पृष्ठ |
| --- | --- | --- |

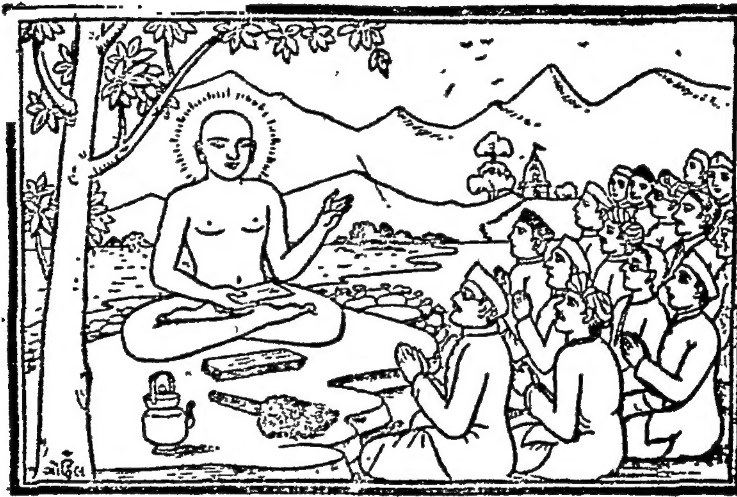



# श्रावकधर्मप्रकाश



श्री सर्वज्ञदेवको नमस्कार हो !

# प्रवचनका उपोद्घात



यह पद्मनन्दी पंचविंशतिका नामक शास्त्रका सातवाँ अधिकार चल रहा है। आत्माके आनन्दमें झूलनेवाले और वन-जंगलमें निवास करनेवाले वीतरागी दिगम्बर मुनिराज श्री पद्मनन्दीस्वामीने लगभग ९०० वर्ष पहले इस शास्त्रकी रचना की थी। इसमें कुल छब्बीस अधिकार हैं, उनमेंसे सातवाँ "देशव्रत-उद्योतन" नामका अधिकार चल रहा है। मुनिदशाकी भावना धर्मीको होती है, परन्तु जिसके ऐसी दशा न हो सके वह देशव्रतरूप श्रावकके धर्मका पालन करता है। उस श्रावकके भाव कैसे होते हैं, उसको सर्वज्ञकी पहिचान, देव-शास्त्र-गुरुका बहुमान आदि भाव कैसे होते हैं आत्माके भानसहित रागकी मन्दताके प्रकार कैसे होते हैं वह इसमें बतलाये गये हैं। इसमें निश्चय-व्यवहारका सामंजस्यपूर्ण सुन्दर वर्णन है। यह अधिकार जिज्ञासुओंके लिए उपयोगी होनेसे प्रवचनमें तीसरी बार चल रहा

है। पूर्वमें दो वार (वीर सं० २४७४ तथा २४८१ में) इस अधिकार पर प्रवचन हो चुके हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजीको यह शास्त्र वहुत प्रिय था, उन्होंने इस शास्त्रको "वनशास्त्र" कहा है, और इन्द्रियनिग्रहपूर्वक उसके अभ्यासका फल अमृत है-ऐसा कहा है।

"देश-व्रतोद्योतन" अर्थात् गृहस्थदशामें रहने वाले श्रावकके धर्मका प्रकाश कैसे हो, उसका इसमें वर्णन है। गृहस्थदशामें भी धर्म हो सकता है। सम्यग्दर्शन-सहित शुद्धि किस प्रकार वढ़ती है और राग किस प्रकार टलता है, और श्रावक भी धर्मकी आराधना करके परमात्मदशाके सन्मुख किस प्रकार जाये वह वतलाकर इस अधिकारमें श्रावकके धर्मका उद्योत किया गया है। समन्तभद्रस्वामीने भी रत्नकरंड-श्रावकाचारमें श्रावकके धर्मोंका वर्णन किया है, वहाँ धर्मके ईश्वर तीर्थंकर भगवन्तोंने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको धर्म कहा है—( सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ) उसमें सवसे पहले ही सम्यग्दर्शन धर्मका वर्णन किया गया है, और उसका कारण सर्वज्ञकी श्रद्धा वताई गई है। यहाँ भी पद्मनन्दी मुनिराज श्रावकके धर्मोंका वर्णन करते समय सवसे पहले सर्वज्ञदेवकी पहिचान कराते हैं। जिसे सर्वज्ञकी श्रद्धा नहीं, जिसे सम्यग्दर्शन नहीं, उसे तो मुनिका अथवा श्रावकका कोई धर्म नहीं होता। धर्मके जितने प्रकार हैं उनका मूल तो सम्यग्दर्शन है। अतः जिज्ञासुको सर्वज्ञकी पहिचान पूर्वक सम्यग्दर्शनका उद्यम तो सवसे पहले होना चाहिये। उस भूमिकामें भी रागकी मन्दता इत्यादिके प्रकार किस प्रकार होते हैं, वे भी इसमें वताये गये हैं। निश्चय-व्यवहारकी संधि सहित सरस वात की गई है। सवसे पहले सर्वज्ञकी और सर्वज्ञके कहे हुए धर्मकी पहिचान करनेके लिये कहा गया है।



[ १ ]

# सर्वज्ञदेवकी श्रद्धापूर्वक श्रावकधर्म



श्रावकको प्रथम तो भगवान सर्वज्ञदेव और उनके वचनोंकी पहिचान तथा श्रद्धा होती है। सर्वज्ञके स्वरूपमें और उनके वचनमें जिसे भ्रम होता है वह तो मिथ्यात्वके महापापमें पड़ा हुआ है, उसे देशव्रत अथवा श्रावकपना नहीं होता... यह उद्‌घोषणा करने वाला प्रथम श्लोक इस प्रकार है—

बाह्याभ्यन्तरसंगवर्जनतया ध्यानेन शुक्लेन यः
कृत्वा कर्मचतुष्टयक्षयमगात् सर्वज्ञतां निश्चिताम् ।
तेनोक्तानि वचांसि धर्मकथने सत्यानि नान्यानि तद्
भ्राम्यत्यत्र मतिस्तु यस्य स महापापी न भव्योऽथवा ॥ १ ॥

देशव्रतरूप श्रावकधर्मका वर्णन करते समय सबसे पहले कहा जाता है कि सर्वज्ञदेवके द्वारा कहा हुआ धर्मका स्वरूप ही सत्य है, इसके सिवाय अन्यका कहा हुआ सत्य नहीं,—श्रावककी ऐसी निःशंक श्रद्धा होनी चाहिये; क्योंकि धर्मके मूल प्रणेता सर्वज्ञदेव हैं, जिसे उनका ही निर्णय नहीं उसे धर्मका निर्णय नहीं हो सकता।

जो सर्वज्ञ हुए वे किस रीतिसे हुए?

"समस्त बाह्य तथा अभ्यंतर परिग्रहको छोड़कर और शुक्लध्यान द्वारा चार घाति कर्मोंका नाश करके सर्वज्ञपना प्राप्त किया।" देखो शुक्लध्यान कहो कि शुद्धोपयोग कहो उससे कर्मोंका क्षय होकर सर्वज्ञता प्रगट होती है; परन्तु बाहरके कोई

साधनसे अथवा रागके अवलंबनसे कोई सर्वज्ञता नहीं प्रगटती। मोक्षमार्ग प्रकाशकके मंगलाचरणमें भी अरिहन्तदेवको नमस्कार करते समय पं. श्री टोडरमलजीने कहा है कि—"जो गृहस्थपना छोड़कर, मुनिधर्म अंगीकार कर, निज-स्वभाव साधनसे चार घातिकर्मोंका क्षय कर अनंतचतुष्टयरूप विराजमान हुए हैं...ऐसे श्री अरिहन्तदेवको हमारा नमस्कार हो"। मुनिधर्म कैसा? कि शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म, उसे अंगीकार करके, भगवानने निज-स्वभाव साधनसे कर्मोंका क्षय किया; कोई बाह्य साधनसे अथवा रागके साधनसे नहीं, परन्तु उन्होंने निश्चयरत्नत्रयरूप निजस्वभावके साधनसे ही कर्मोंका क्षय किया है। इससे विपरीत साधन माने तो उसने भगवानका मार्ग नहीं जाना, भगवानको नहीं पहिचाना। भगवानको पहिचानकर नमस्कार करे तब सच्चा नमस्कार कहलाये।

यहाँ प्रथम ही कहा गया है कि बाह्य-अभ्यन्तर संगको छोड़कर शुक्लध्यानसे प्रभुने केवलज्ञान पाया; अर्थात् कोई जीव घरमें रह करके बाहरमें वस्त्रादिकका संग रख करके केवलज्ञान पा जावे ऐसा नहीं बनता। अंतरंगके संगमें मिथ्यात्वादि मोहको छोड़े विना मुनिदशा या केवलज्ञान नहीं होता।

मुनिके महाव्रतादिका राग केवलज्ञानका साधन नहीं है, परन्तु उनको शुद्धोपयोग-रूप निजस्वभाव ही केवलज्ञानका साधन है, उसे ही मुनिधर्म कहा गया है। यहाँ उत्कृष्ट बात बतानेका प्रयोजन होनेसे शुक्लध्यानकी बात ली गई है। शुक्लध्यान शुद्धोपयोगी मुनिको ही होता है। केवलज्ञानका साधनरूप यह मुनिधर्म मूल सम्यग्दर्शन है, और वह सम्यग्दर्शन सर्वज्ञदेवकी तथा उनके वचनोंकी पहिचानपूर्वक होता है; इसलिये यहाँ श्रावकधर्मके वर्णनमें सबसे पहिले ही सर्वज्ञदेवकी पहिचान की बात ली गई है।

आत्माका भान करके, मुनिदशा प्रगट करके, शुद्धोपयोगकी उग्र श्रेणी मांड करके जो सर्वज्ञ हुए उन सर्वज्ञ परमात्माके वचन ही सत्यधर्मका निरूपण करने वाले हैं; ऐसे सर्वज्ञको पहिचाननेसे आत्माके ज्ञानस्वभावकी प्रतीति होती है और तब धर्मका प्रारम्भ होता है। जो सर्वज्ञकी प्रतीति नहीं करता उसे आत्माकी ही प्रतीति नहीं, धर्मकी ही प्रतीति नहीं; उसे तो शास्त्रकार "महापापी अथवा अभव्य" कहते हैं। उसमें धर्म समझनेकी योग्यता नहीं, इसलिये उसे अभव्य कहा गया है। जिसे सर्वज्ञके स्वरूपमें संदेह है, सर्वज्ञकी वाणीमें जिसे संदेह है,

सर्वज्ञके सिवा अन्य कोई सत्यधर्मका प्रणेता नहीं है—ऐसा जो नहीं पहिचानता और विपरीत मार्गमें दौड़ता है वह जीव मिथ्यात्वरूप महापापका सेवन करता है, उसमें धर्मके लिये योग्यता नहीं है। ऐसा कहकर धर्मके जिज्ञासुको सबसे पहले सर्वज्ञकी और सर्वज्ञके मार्गकी पहिचान करनेको कहा है।

अरे! तू ज्ञानकी प्रतीतिके विना धर्म कहाँ करेगा? रागमें खड़ा रहकर सर्वज्ञकी प्रतीति नहीं होती। रागसे जुदा पड़कर, ज्ञानरूप होकर सर्वज्ञकी प्रतीति होती है। इस-प्रकार ज्ञानस्वभावके लक्ष्यपूर्वक सर्वज्ञकी पहिचान करके उसके अनुसार धर्मकी प्रवृत्ति होती है। सम्यक्त्वी ज्ञानीके जो वचन हैं वे भी सर्वज्ञ अनुसार हैं क्योंकि उसके हृदयमें सर्वज्ञदेव विराजमान हैं। जिसके हृदयमें सर्वज्ञ न हों उसके धर्मवचन सच्चे नहीं होते।

देखो, यह श्रावकधर्मका प्रथम चरण! यहाँ श्रावकधर्मका वर्णन करना है। सर्वज्ञदेवकी पहिचान श्रावकधर्मका मूल है। मुनिके या श्रावकके जितने भी धर्म हैं उनका मूल सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञकी प्रतीतिके विना सम्यग्दर्शन नहीं होता, और सम्यग्दर्शनके विना श्रावकके देशव्रत या मुनिके महाव्रत नहीं होते; सम्यग्दर्शन सहित देशव्रती श्रावक कैसा होता है, उसके स्वरूपका इसमें वर्णन है, इसलिये इस अधिकारका नाम 'देशव्रतोद्योतन अधिकार' है। सर्वज्ञदेवने जैसा आत्मस्वभाव प्रगट किया और जैसा वाणी द्वारा कहा वैसे आत्माके अनुभव सहित निर्विकल्प प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञ किस प्रकार हुए और उन्होंने क्या कहा, इसका यथार्थ ज्ञान सम्यग्दृष्टिको ही होता है। अज्ञानीको तो सर्वज्ञ किस प्रकार हुए उसके उपायकी भी खबर नहीं और सर्वज्ञदेवने क्या कहा उसकी भी खबर नहीं है यहाँ तो कहते हैं कि जो सर्वज्ञके मार्गको नहीं पहचानता और विपरीत मार्गका आदर करता है उसकी बुद्धि भ्रमित है, वह भ्रमबुद्धिवाला है, मिथ्यात्व-रूप महापापमें डूबा हुआ है। गृहस्थका धर्म भी उसे नहीं होता, तो मुनिधर्मकी बात ही क्या!

'बाह्य और अन्तरंग सर्वसंग छोड़कर शुक्लध्यान द्वारा भगवान सर्वज्ञ हुए हैं;' सम्यग्दर्शन और आत्मज्ञान तो पहले था, फिर मुनि होने पर बाह्य सर्व परिग्रह छोड़ा, और अन्तरंगकी अशुद्धता छोड़ी। जहाँ अशुद्धता छोड़ी वहाँ निमित्तरूपमें बाह्यसंग छोड़ा—ऐसा कहा जाता है। मुनिदशामें समस्त बाह्यसंगका त्याग है, देहके ऊपर वस्त्रका एक टुकड़ा भी नहीं होता, भोजन भी हाथमें लेते हैं, भूमि पर सोते हैं;

अन्तरंगमें शुद्धोपयोगरूप आचरण द्वारा अशुद्धता और उसके निमित्त छूट गये हैं। शुद्धोपयोगकी धारारूप जो शुक्लध्यान, उसके द्वारा स्वरूपको ध्येयमें लेकर पर्यायको उसमें लीन होनेका नाम ध्यान है, उसके द्वारा घाति कर्मोंका नाश होकर केवलज्ञान हुआ है। देखो, पहिले पर्यायमें अशुद्धता थी, ज्ञान-दर्शन अपूर्ण थे, मोह था, इसलिये घातिया कर्मोंके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध था, और अब शुद्धता होनेसे, अशुद्धता दूर होनेसे कर्मोंके साथका सम्बन्ध छूट गया, ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य परिपूर्ण रूपसे प्रगट हो गये और कर्मोंका नाश हो गया—किस उपायसे? शुद्धोपयोगरूप धर्म द्वारा।—इस प्रकार इसमें ये तत्त्व आ जाते हैं—बन्ध, मोक्ष और मोक्षमार्ग। जो सर्वज्ञदेव द्वारा कहे हुए ऐसे तत्त्वोंका स्वरूप समझे, उसे ही श्रावकधर्म प्रगट होता है।

धर्मका कथन करनेमें सर्वज्ञदेवके वचन ही सत्य हैं, अन्यके नहीं। सर्वज्ञको माने बिना कोई कहे कि मैं स्वयमेव जानकर धर्म कहता हूँ—तो उसकी बात सच्ची नहीं होती और सर्वज्ञ-अरहन्तदेवके सिवा अन्य मत भी एक समान हैं—ऐसा जो माने उसे भी धर्मके स्वरूपकी खबर नहीं। जैन और अजैन सब धर्मोंको समान माननेवालेको तो व्यवहार श्रावकपना भी नहीं। इसलिये श्रावक-धर्मके वर्णनके प्रारम्भमें ही स्पष्ट कहा है कि सर्वज्ञके वचन द्वारा कहा हुआ धर्म ही सत्य है और अन्य धर्म सत्य नहीं, ऐसी प्रतीति श्रावकको पहले ही होना चाहिये।

अहा, सर्वज्ञ! ये तो जैनधर्मके देव हैं; देवके स्वरूपको भी जो न पहिचाने उसे धर्म कैसा? तीनलोक और तीनकालके समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायोंको वर्तमानमें सर्वज्ञदेव प्रत्येक समयमें स्पष्ट जानते हैं, ऐसी बात भी जिसे नहीं रुचती उसे तो सर्वज्ञदेवकी या मोक्षतत्त्वकी प्रतीति नहीं, और आत्माके पूर्ण ज्ञानस्वभावकी भी उसे खबर नहीं। श्रावक धर्मात्मा तो भ्रान्तिरहित सर्वज्ञदेवका स्वरूप जानता है और ऐसा ही निजस्वरूप साधता है। जैसे लेंडीपीपरके प्रत्येक दानेमें चौंसठपुटी चरपराहट भरी है वही व्यक्त होती है, उसी प्रकार जगतके अनन्त जीवोंमेंसे प्रत्येक जीवमें सर्वज्ञताकी शक्ति भरी है, उसका ज्ञान करके उसमें एकाग्र होनेसे वह प्रगट होती है। देहसे भिन्न, कर्मसे भिन्न, रागसे भिन्न और अल्पज्ञतासे भी भिन्न परिपूर्ण ज्ञ-स्वभावी आत्मा जैसा भगवानने देखा और स्वयं प्रगट किया वैसा ही वाणीमें कहा है। वैसी आत्माकी और उसके कहनेवाले सर्वज्ञकी प्रतीति करने जाये वहाँ रागादिकी रुचि नहीं रहती; संयोग, विकार या अल्पज्ञताकी रुचि

छूटकर स्वभावसन्मुख रुचि होती है तभी सर्वज्ञके द्वारा कहे हुए धर्मकी पहिचान होती है और तभी श्रावकपना प्रगट होता है। जैनकुलमें जन्म लेनेसे ही कोई श्रावक नहीं हो जाता परन्तु अन्तरमें जैन परमेश्वर सर्वज्ञदेवकी पहिचान करे और उनके द्वारा कहे हुए वस्तुस्वरूपको पहिचाने तभी श्रावकपना होता है। अरे, श्रावकपना किसे कहते हैं इसकी भी वहुतसे जीवोंको खवर नहीं। इसलिये यहाँ देशव्रत-उद्योतनमें पद्मनन्दीस्वामीने श्रावकके धर्मका उद्योत किया है, उसका स्वरूप प्रकाशित किया है।

मांगलिकमें हमेशा वोलते हैं कि 'केवलिपण्णत्तो धम्मो शरणं पव्वज्जामि'—अर्थात् मैं केवली भगवानके द्वारा कहे हुए धर्मकी शरण ग्रहण करता हूँ। परन्तु सर्वज्ञ—केवली कैसे हैं और उनके द्वारा कहे हुए धर्मका स्वरूप कैसा है उसकी पहिचान विना किसकी शरण लेगा?—पहिचान करे तो सर्वज्ञके धर्मकी शरण लेना कहलाता है, और उसे स्वाश्रयसे सम्यक्दर्शनादि धर्म प्रगट होते हैं। मात्र वोलनेसे धर्मकी शरण नहीं मिलती, परन्तु केवली भगवानने जैसा धर्म कहा है उसकी पहिचान करके अपनेमें वैसा भाव प्रगट करे तो केवलीके धमकी शरण ली कहलाये।

सवसे पहले सर्वज्ञदेवकी और उनके द्वारा कहे हुए धर्मकी पहिचान करनेको कहा गया है। शास्त्रकारने मात्र वाह्य अतिशय द्वारा या समवसरणके वैभव द्वारा भगवानकी पहिचान नहीं कराई परन्तु सर्वज्ञतारूप चिह्न द्वारा भगवानकी पहिचान कराई, तथा उनके द्वारा कहा हुआ धर्म ही सत्य है ऐसा कहा है। जगतमें छह प्रकारके स्वतंत्र द्रव्य, नौ तत्त्व और प्रत्येक आत्माका पूर्ण स्वभाव जानकर स्वाश्रयसे धर्म वतलानेवाली सर्वज्ञकी वाणी, और रागादिक पराश्रितभावसे धर्म मनवाने वाली अज्ञानीकी वाणी,—इनके वीच विवेक करना चाहिये। स्वाश्रित शुद्धोपयोगरूप शुक्लध्यानके साधनसे भगवान सर्वज्ञ हुए हैं।

प्रश्नः—वह शुक्लध्यान कैसा है? क्या उस शुक्लध्यानका रंग सफेद है?

उत्तरः—अरे भाई, शुक्लध्यान वह तो चैतन्यके आनन्दके अनुभवमें लीनताकी धारा है, वह तो केवलज्ञान प्राप्तिकी श्रेणी है। उसका रंग नहीं होता। सफेद रंग वह तो रूपी पुद्गलकी पर्याय है। यहाँ शुक्लध्यानमें 'शुक्ल' का अर्थ सफेद रंग नहीं परन्तु शुक्लका अर्थ है रागकी मलिनता रहित, उज्ज्वल, पवित्र। शुक्लध्यान

तो अरूपी आत्माकी अरूपी पर्याय है, इस स्वरूप-साधन द्वारा ही भगवानने केवलज्ञान पाया है। ऐसे साधनको पहिचाने तो भगवानकी सच्ची पहिचान होवे। इस सर्वज्ञताको साधते-साधते वन-निवासी सन्त पद्मनन्दी मुनिराजने यह शास्त्र रचा है। आत्माकी शक्तिमें जो पूर्णानन्द भरा है उसकी प्रतीति करके उसमें लीनता द्वारा बोलते थे, सिद्ध भगवानके साथ अन्तरमें अनुभव द्वारा बात करते थे और सिद्धप्रभु जैसा अतीन्द्रिय आनन्दका बहुत अनुभव करते थे; वहाँ भव्य जीवों पर करुणा करके यह शास्त्र रचा गया है। गृहस्थका धर्म बतलाते हुए कहते हैं कि—अरे जीव, सबसे प्रथम तू सर्वज्ञदेवको पहिचान। सर्वज्ञदेवको पहिचानते ही अपनी सच्ची जाति पहिचानमें आ जावेगी।

महाविदेहक्षेत्रमें वर्तमानमें सर्वज्ञ परमात्मा सीमंधरादि भगवन्त विराज रहे हैं, वहाँ लाखों सर्वज्ञ भगवन्त हैं, ऐसे अनन्त हो गये हैं और प्रत्येक जीवमें ऐसी शक्ति है। अहो, आत्माकी पूर्णदशाको प्राप्त सर्वज्ञ परमात्मा इस लोकमें विराज रहे हैं—ऐसी बात कानमें पड़ते ही जिसे आत्मामें ऐसा उल्लास आया कि वाह! आत्माका ऐसा वैभव! आत्माकी ऐसी अचिंत्य शक्ति! ज्ञानस्वभावमें सर्वज्ञ होनेकी और पूर्ण आनन्दकी शक्ति है; मेरी आत्मामें भी ऐसी ही शक्ति है।—इस प्रकार स्वभावकी महिमा जिसे जागृत हुई उसे शरीरकी, रागकी या अल्पज्ञताकी महिमा नष्ट हो जाती है और उसकी परिणति ज्ञानस्वभावकी ओर झुक जाती है। उसका परिणमन संसारभावसे पीछे हटकर सिद्धपदकी ओर लग जाता है। जिसकी ऐसी दशा होती है उसे ही सर्वज्ञकी सच्ची श्रद्धा हुई है, और सर्वज्ञदेवने अल्प कालमें ही उसकी मुक्ति देखी है।

सर्वज्ञताकी महिमाकी तो बात ही क्या है! इस सर्वज्ञकी पहिचानमें भी कैसे अपूर्व भाव होते हैं और उसमें कितना पुरुषार्थ है उसकी लोगोंको खबर नहीं है। सर्वज्ञदेवको पहिचानते ही मुमुक्षुको उनके प्रति अपार भक्ति उल्लसित होती है। जहाँ पूर्ण ज्ञान-आनन्दको प्राप्त ऐसे सर्वज्ञ परमात्माके प्रति पहिचानपूर्वक यथार्थ भक्ति उल्लसित हुई वहाँ अब अन्य किसीकी (पुण्यकी या संयोगकी) महिमा रहती ही नहीं; उसका आदर नहीं रहता, और संसारमें भटकनेका भी सन्देह नहीं रहता। अरे जहाँ ज्ञानस्वभावका आदर किया और जिस ज्ञानमें सर्वज्ञकी स्थापना की उस ज्ञानमें अब भव कैसा? ज्ञानमें भव नहीं; भवका संदेह नहीं। अरे जीव! एकबार तो सर्वज्ञको पहिचानकर उनके गीत गा। इस पृथ्वी-तलका हरिण भी जिन भगवानके गीत सुननेके लिये ठेठ चन्द्रलोकमें गया, तो यहाँ संत सर्वज्ञताकी

महिमाका गुणगान सुनायें और उसको सुनते हुए मुमुक्षुको भक्तिका उल्लास न होवे ऐसा कैसे बने? ऐसे सर्वज्ञकी पहिचान यह श्रावकका पहला लक्षण है, और यह धर्मका मूल है। जो सर्वज्ञको नहीं पहिचानता, जिसे उसके वचनोंमें भ्रम है और जो विपरीत मार्गको मानता है उसे तो श्रावकपना नहीं होता और शुभभावका भी ठिकाना नहीं है, मिथ्यात्वकी तीव्रताके कारण उसे महापापी अथवा अपात्र कहा है। इसलिये मुमुक्षुको सर्व प्रथम सर्वज्ञदेवकी पहिचान करनी चाहिए।

अहा नाथ! आपने एक समयमें तीनकाल तीनलोकको साक्षात् जाना और दिव्यवाणीमें आत्माके सर्वज्ञस्वभावको प्रगट किया; आपकी वह वाणी हमने सुनी तो अब आपकी सर्वज्ञतामें अथवा मेरे ज्ञानस्वभावमें संदेह नहीं रहा। आत्मामें शक्ति भरी है उसमेंसे सर्वज्ञता प्रगट होती है—ऐसी आत्मशक्तिकी जिसे प्रतीति नहीं और बाहरके साधनसे धर्म करना चाहता है वह तो बड़ा अविवेकी है, दृष्टिहीन है। ज्ञानस्वभावकी और सर्वज्ञकी श्रद्धा विना "शास्त्रमें ऐसा लिखा और उसका अर्थ ऐसा होता है"—ऐसा ज्ञानीके साथ वाद-विवाद करे वह तो, आकाशमें उड़ते पक्षियोंको गिननेके लिये आँखों वालेके साथ अंधा होड़ करे—इस प्रकार है। ज्ञानस्वभावकी दृष्टि विना, सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए शास्त्रके अर्थको प्रगट करना अशक्य है। अतः पहले ही श्लोकमें सर्वज्ञकी और उनकी वाणीकी पहिचान करनेको कहा गया है। सर्वज्ञकी श्रद्धा मोक्षके मण्डपका माणिक-स्तंभ है; उस सर्वज्ञके अर्थात् मोक्षतत्त्वके गाने गाकर उसकी श्रद्धारूप मांगलिक किया।

अब ऐसे सर्वज्ञकी पहिचानवाले सम्यग्दृष्टि जीवोंकी विरलता बतलाकर उसकी महिमा करते हुए दूसरे श्लोकमें कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि अकेला हो तो भी इस लोकमें शोभनीय और प्रशंसनीय होता है।



# [ २ ]

## धर्मके आराधक सम्यग्दृष्टिकी प्रशंसा

जगतमें सर्वज्ञका अनुसरण करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव तो बहुत थोड़े हैं, और उनसे विरुद्ध मिथ्यादृष्टि जीव बहुत हैं, ऐसा किसीको लगे तो कहते हैं कि—हे भाई! आनन्ददायक ऐसे अमृतपथरूप मोक्षमार्गमें स्थित सम्यग्दृष्टि कदाचित् एक ही हो तो वह अकेला शोभनीक और प्रशंसनीय है, और मोक्षमार्गसे भ्रष्ट ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव बहुतसे होवें तो भी वे शोभनीक नहीं हैं। ऐसा कहकर सम्यक्त्वकी आराधनामें उत्साह उत्पन्न करते हैं।

卐

एकोऽप्यत्र करोति यः स्थितिमति प्रीतः शुचौ दर्शने
सः श्लाघ्यः खलु दुःखितोऽप्युदयतो दुष्कर्मणः प्राणिभृत् ।
अन्यैः किं प्रचुरैरपि प्रमुदितैः अत्यन्तदूरीकृत
स्फीतानन्दभरप्रदामृतपथैः मिथ्यापथप्रस्थितैः ॥ २ ॥

देखिये, इस सम्यग्दर्शनकी विरलता बताकर कहते हैं कि, इस जगतमें अत्यन्त प्रीतिपूर्वक जो जीव पवित्र जैनदर्शनमें स्थिति करता है अर्थात् शुद्ध सम्यग्दर्शनको निश्चलरूपसे आराधता है वह जीव चाहे एक ही हो और कदाचित् पूर्व कर्मोदसे दुःखी हो तो भी वह प्रशंसनीय है, क्योंकि सम्यग्दर्शन द्वारा परम आनन्ददायक अमृतमार्गमें वह स्थित है। और जो अमृतमय मोक्षमार्गसे भ्रष्ट हैं और मिथ्यामार्गमें ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव बहुत हो और शुभकर्मसे प्रमुदित हों तो भी उससे क्या प्रयोजन है—यह कोई प्रशंसनीय नहीं है।

भाई! संसारमें तो कौवे-कुत्ते, कीड़ी-मकोड़े इत्यादि अनंत जीव हैं, परन्तु जैनदर्शन प्राप्त कर जो जीव पवित्र सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयकी आराधना करते हैं वे ही जीव शोभनीक हैं। सम्यग्दर्शन विना पुण्य भी प्रशंसनीय या वांछनीय नहीं है। जगत्में मिथ्यादृष्टि बहुत हों और सम्यग्दृष्टि चाहे थोड़े हों—उससे क्या? जैसे जगतमें कोयला

बहुत हो और हीरा क्वचित् हो, उससे क्या कोयलेकी कीमत बढ़ गई? नहीं, थोड़ा हो तो भी जगमगाता हीरा शोभता है, उसीप्रकार थोड़े हों तो भी सम्यग्दृष्टि जीव जगतमें शोभते हैं। हीरे हमेशा थोड़े ही होते हैं। जैनधर्मकी अपेक्षा अन्य कुमतके माननेवाले जीव यहाँ बहुत दिखते हैं उससे धर्मात्माको कभी ऐसा संदेह नहीं होता है कि वे कुमत सच्चे होंगे! वह तो निःशंकरूपसे और परमप्रीतिसे जैनधर्मको अर्थात् सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयको आराधता है। और ऐसे धर्मी जीवोंसे ही यह जगत शोभित हो रहा है।

सर्वज्ञदेवके कहे हुए पवित्र दर्शनमें जो प्रीतिपूर्वक स्थिति करता है, अर्थात् निश्चलपने शुद्ध सम्यक्दर्शनको आराधता है वह सम्यक्दृष्टि जीव अकेला हो तो भी जगतमें प्रशंसनीय है। चाहे कदाचित् पूर्वके कोई दुष्कर्मके उदयसे वह दुखित हो—बाहरकी प्रतिकूलतासे भरा हुआ हो, निर्धन हो, काला-कुबड़ा हो, तो भी अन्तरंगकी अनन्त चैतन्यऋद्धिका स्वामी वह धर्मात्मा परम आनन्दरूप अमृतमार्गमें स्थित है। करोडों, अरबोंमें वह अकेला हो तो भी शोभता है, प्रशंसा पाता है। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें समंतभद्रस्वामी कहते हैं कि—जो जीव सम्यग्दर्शन सम्पन्न है वह चांडालके देहमें उत्पन्न हुआ हो तो भी गणधरदेव उसे 'देव' कहते हैं। जैसे भस्मसे ढँके हुए अंगारेमें अन्दर प्रकाश—तेज है उसीप्रकार चांडालकी देहसे ढँका हुआ वह आत्मा अन्दर सम्यग्दर्शनके दिव्यगुणसे प्रकाशित हो रहा है।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजं ।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसं ॥ २८ ॥

सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थ हो तो भी मोक्षमार्गमें स्थित है। उसे भले ही बाहरकी प्रतिकूलता कदाचित् हो, परन्तु अन्दरमें तो उसे चैतन्यके आनंदकी लहर है; इन्द्रके वैभवमें भी जो आनंद नहीं उस आनंदका वह अनुभव करता है। पूर्व कर्मका उदय उसे नहीं डिगा सकता। वह सम्यक्त्वमें निश्चल है। कोई जीव तिर्यंच हो और सम्यग्दर्शन प्राप्त कर चुका हो, रहनेका मकान न हो तो भी वह आत्मगुणोंसे शोभता है, और मिथ्यादृष्टि जीव सिंहासन पर बैठा हो तो भी वह नहीं शोभता, प्रशंसा नहीं पाता। बाहरके संयोगसे आत्माकी कुछ शोभा नहीं है, आत्माकी शोभा तो अंदरके सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे है। अरे छोटा सा मेंढ़क हो, समवसरणमें बैठा हो, वह भगवानकी वाणी सुनकर अंदरमें उतरकर सम्यग्दर्शन द्वारा चैतन्यके अपूर्व आनन्दका अनुभव करे, वहां अन्य किस साधनकी जरूरत है? और बाहरकी प्रतिकूलता कैसे बाधक हो सकती है? इसलिये कहा है कि चाहे पापकर्मका उदय हो परन्तु हे जीव! तू सम्यक्त्वकी आराधनामें निश्चल

रह। पापकर्मका उदय हो, उससे कोई सम्यक्त्वकी कीमत नहीं चली जाती, उससे तो पापकर्म निर्जरता जाता है; चारोंओरसे पापकर्मके उदयसे घिरा हुआ हो, अकेला हो तो भी जो जीव प्रीति पूर्वक सम्यक्त्वको धारण करता है वह अत्यन्त आदरणीय है; चाहे जगत्में अन्य उसे न माने, चाहे औंधी दृष्टिवाला उसे साथ न देवे, तो भी अकेला वह मोक्षके मार्गमें आनन्द पूर्वक चला जाता है। शुद्ध आत्मामें मोक्षका अमृतमार्ग उसने देख लिया है, उस मार्ग पर निःशंक चला जाता है। क्या इसका पूर्वकर्मका उदय है। इसकी वर्तमान परिणति उदयकी तरफ कुछ भी नहीं झुकती, इसकी परिणति तो चैतन्यस्वभावकी तरफ झुककर आनन्दमयी बन गई है, उस परिणतिसे वह अकेला शोभता है। जैसे जंगलमें वनका राजा सिंह अकेला भी शोभता है वैसे ही संसारमें चैतन्यका राजा सम्यग्दृष्टि अकेला भी शोभता है। सम्यक्त्वके साथ पुण्य हो तो ही वह जीव शोभा पावे—पुण्यकी ऐसी अपेक्षा सम्यग्दर्शनमें नहीं है। सम्यग्दृष्टि पापके उदयसे भी जुदा है और पुण्यके उदयसे भी जुदा है; दोनोंसे जुदा अपने ज्ञानभावमें सम्यक्त्वसे ही वह शोभता है। आनन्दमय अमृतमार्गमें आगे बढ़ता हुआ वह अकेला मोक्षमें चला जाता है। श्रेणिक राजा आज भी नरकमें हैं परन्तु उनकी आत्मा सम्यक्त्वको प्राप्त कर अभी मोक्षमार्गमें गमन कर रही है, सम्यक्त्वके प्रतापसे थोड़े समयमें वे तीनलोकके स्वामी होंगे।

जिसे सम्यग्दर्शन नहीं, जिसे धर्मकी खबर नहीं, जो अमृतमार्गसे भ्रष्ट है और मिथ्यामार्गमें गमन करता है, वह जीव चाहे कदाचित् पुण्योदयके ठाठसे घिरा हुआ (छूटा हुआ नहीं परन्तु घिरा हुआ) हो और लाखों-करोडों जीव उसे मानने वाले हों, तो भी वह नहीं शोभता, प्रशंसा नहीं पाता; अरे, धर्ममें इसकी क्या कीमत! कोई कहे कि 'पवित्र जैनदर्शन सिवा अन्य कोई विपरीत मार्गको इतने सब जीव मानते हैं इससे उसमें कोई शोभा होगी! कोई सच्चा होगा!'—तो कहते हैं कि नहीं; इसमें अंशमात्र शोभा नहीं, सत्य नहीं। ऐसे मिथ्यामार्गमें लाखों जीव होवें तो भी वे नहीं शोभते, क्योंकि आनन्दसे भरे हुए अमृतमार्गकी उन्हें खबर नहीं है, वे मिथ्यात्वके जहरसे भरे हुए मार्गमें जा रहे हैं। जगतमें किसी कुपंथको लाखों मनुष्य मानें उससे धर्मीको शंका नहीं होती कि उसमें कुछ शोभा होगी! और सत्यपंथके बहुत थोड़े जीव होवें, आप अकेला हो तो भी धर्मीको संदेह नहीं होता कि सत्यमार्ग यह होगा या अन्य होगा!—वह तो निःशंकरूपसे परम प्रीति पूर्वक सर्वज्ञके कहे हुए पवित्र मार्गको साधता है। इस प्रकार सतपंथमें अथवा मोक्षमार्गमें सम्यग्दृष्टि अकेला भी शोभता है। जगतकी प्रतिकूलताका घेरा इसे सम्यक्त्वसे डिगा नहीं सकता। यहाँ मोक्षमार्गको आनन्दसे परिपूर्ण अमृतमार्ग कहा है, इसी कारण भ्रष्ट मिथ्यामार्गमें स्थित लाखों-करोडों जीव भी नहीं शोभते; और

आनन्दपूर्ण अमृतमार्गमें एक-दो-तीन सम्यग्दृष्टि होवें तो भी वे जगतमें शोभते हैं। अतः इस सम्यक्त्वको निश्चलरूपसे धारण करो। मुनिधर्म हो अथवा श्रावकधर्म हो, उसमें सम्यग्दर्शन सबसे पहले है। सम्यग्दर्शन बिना श्रावक अथवा मुनिधर्म नहीं होता। अतः हे जीव! तुझे धर्म करना हो और धर्मी होना हो तो पहले तू ऐसे सम्यग्दर्शनकी आराधना कर; उसीसे ही धर्मीपना होगा।

सत्का माप संख्याके आधारसे नहीं है, और सत्को दुनियाकी प्रशंसाकी आवश्यकता नहीं है। दुनियामें अधिक जीव मानें और अधिक जीव आदर देवें तो ही सत्को सत् कहा जावे-ऐसा नहीं, थोड़े मानने वाले हों तो भी सत् शोभता है; सत् अकेला अपनेसे शोभता है।

अहा, सर्वज्ञदेव द्वारा कहा हुआ आत्मा जिसकी प्रतीतिमें आ गया है, अनुभवमें आ गया है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव पुण्यकी मन्दतासे कदाचित् धनहीन हो, पुत्रहीन हो, काला-कुबड़ा हो, रोगी हो, स्त्री अथवा तिर्यंच हो, चांडाल इत्यादि नीच कुलमें जन्मा हो, लोकमें अनादर होता हो, बाहरमें असाताके उदयसे दुःखी हो—ऐसे चाहे जितनी प्रतिकूलताके बीच खड़ा होते हुए भी, सम्यग्दर्शनके प्रतापसे वह अपने चिदानन्द स्वरूपमें संतुष्टतासे मोक्षमार्गको साध रहा है, इस कारण वह जगतमें प्रशंसनीय है, गणधरादि संत उसके सम्यक्त्वकी प्रशंसा करते हैं; इसका आनन्दकन्द आत्मा कोई निर्धन नहीं, इसका आत्मा रोगी नहीं, इसका आत्मा काला-कुबड़ा अथवा चांडाल नहीं, इसका आत्मा स्त्री नहीं, वह तो चिदानन्दस्वरूप ही अपनेको अनुभवता है, अन्दरमें अनन्त गुणोंकी निर्मलताका खजाना इसके पास है।

श्री दौलतरामजी कवि सम्यग्दृष्टिकी अन्तरंगदशाका वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

"चिन्मूरत दृगधारी की मोहे रीति लगत है अटापटी,
बाहर नारकीकृत दुख भोगत अंतर सुखरस गटागटी।"

नारकीको बाहरमें क्या कोई अनुकूलता है? नहीं। तो भी वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है; छोटा मेंढ़क भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है; वह प्रशंसनीय है। ढाई द्वीपमें समवसरण आदिमें बहुतसे तिर्यंच सम्यग्दृष्टि हैं, इसके बाद ढाई द्वीपके बाहर तो असंख्यात तिर्यंच आत्माके ज्ञानसहित चौथे-पाँचवें गुणस्थानमें विराज रहे हैं, सिंह-बाघ और सर्प जैसे प्राणी भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं वे जीव प्रशंसनीय हैं। अन्दरसे चैतन्यका पाताल फोड़कर सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है—उसकी महिमाकी क्या बात! बाहरके संयोगसे देखे उसे यह महिमा दिखाई नहीं देती है, परन्तु अन्दर आत्माकी

दशा क्या है, उसे पहिचाने तो उसकी महिमाका ज्ञान हो। सम्यग्दृष्टिने आत्माके आनंदको देखा है, उसका स्वाद चखा है, भेदज्ञान हुआ है, वह वास्तवमें आदरणीय है, पूज्य है। बड़े राजा-महाराजाको प्रशंसनीय नहीं कहा, स्वर्गके देवको प्रशंसनीय नहीं कहा, परन्तु सम्यग्दृष्टिको प्रशंसनीय कहा है, फिर भले वह तिर्यंच पर्यायमें हो, नरकमें हो, देवमें हो कि मनुष्यमें हो, वह सर्वत्र प्रशंसनीय है। जो सम्यग्दर्शनधर्मका साधन कर रहे हैं वे ही धर्ममें अनुमोदनीय हैं। सम्यग्दर्शन विना बाह्य त्याग-व्रत या शास्त्रज्ञान आदि बहुत हो तो भी आचार्यदेव कहते हैं कि यह हमको प्रशंसनीय नहीं लगता, क्योंकि यह कोई आत्माके हितका कारण नहीं बनता है। हितका मूल कारण तो सम्यग्दर्शन है। करोड़ों-अरबों जीवोंमें एक ही सम्यग्दृष्टि हो तो भी वह उत्तम है-प्रशंसनीय है, और विपरीत मार्गमें बहुत हों तो भी वे प्रशंसनीय नहीं है। ऐसा समझकर हे जीव! तू सम्यग्दर्शनकी आराधना कर, ऐसा तात्पर्य है।

शरीर क्या आत्माका है? जो अपना नहीं वह चाहे जैसा हो उसके साथ आत्माका क्या सम्बन्ध है?—इसलिये धर्मीका महत्व संयोगसे नहीं, धर्मीका महत्व निज चिदानन्द-स्वभावकी अनुभूतिसे ही है।

हजारों भेड़ोंके समूहकी अपेक्षा जंगलमें अकेला सिंह भी शोभता है, उसीप्रकार जगत्के लाखों जीवोंमें सम्यग्दृष्टि अकेला भी (गृहस्थपनेमें हो तो भी) शोभता है। मुनि सम्यग्दर्शन विना नहीं शोभता और सम्यग्दृष्टि मुनिपना विना भी शोभता है, वह मोक्षका साधक है, वह जिनेश्वरदेवका पुत्र है; लाख प्रतिकूलताके बीचमें भी वह जिनशासनमें शोभता है। मिथ्यादृष्टि करोड़ों और सम्यक्दृष्टि एक-दो ही हों तो भी सम्यग्दृष्टि ही शोभते हैं। बहुत चींटियोंका समूह एकत्रित हो जाय उससे कोई उनकी कीमत बढ़ नहीं जाती, वैसे ही मिथ्यादृष्टि जीव बहुत इकट्ठे हो जावें उससे वे प्रशंसा प्राप्त नहीं करते। सम्यग्दर्शन विना पुण्यके बहुत संयोग प्राप्त हों तो भी आत्मा नहीं शोभता; और नरकमें जहाँ हजारों-लाखों या असंख्यात वर्षों पर्यंत अनाजका कण या पानीकी बूँद नहीं मिलती वहाँ भी आनन्दकंद आत्माका भान कर सम्यग्दर्शनसे आत्मा शोभित हो उठता है। * प्रतिकूलता कोई दोष नहीं और अनुकूलता कोई गुण नहीं है। गुण-दोषोंका सम्बन्ध बाहरके संयोग

---

* जिनेन्द्र भगवानके दर्शन करते हुए हम नीचेका श्लोक बोलते हैं, उसमें भी यह भावना गूँथी हुई है—

जिनधर्मविनिर्मुक्तो मा भवत् चक्रवर्त्यपि।
स्यात् चेटोपि दरिद्रोपि जिनधर्मानुवासितः॥

के साथ नहीं; आत्माके स्वभावकी और सर्वज्ञदेवकी श्रद्धा सच्ची या खोटी उसके ऊपर गुण-दोषका आधार है। धर्मी जीव स्वस्वभावके अनुभवसे-श्रद्धासे अत्यन्त संतुष्टरूप रहते हैं, जगतके किसी संयोगकी वांछा उन्हें नहीं। सम्यग्दर्शन रहित जीव हजारों शिष्योंसे पूजित हो तो भी वह प्रशंसनीय नहीं, और विरले सम्यग्दृष्टि धर्मात्माको माननेवाले कोई न हों तो भी वह प्रशंसनीय है, क्योंकि वह मोक्षका पथिक है, वह सर्वज्ञका 'लघुनन्दन' है, मुनि तो सर्वज्ञके ज्येष्ठ पुत्र हैं और सम्यग्दृष्टि लघुनन्दन अर्थात् छोटे पुत्र हैं। भले वे छोटे पुत्र हो परन्तु हैं तो सर्वज्ञके उत्तराधिकारी, वे अल्पकालमें तीनलोकके नाथ-सर्वज्ञ होंगे।

रोगादि जैसी प्रतिकूलतामें भी "मैं स्वयंसिद्ध, चिदानन्दस्वभावी परमात्मा हूँ" ऐसी निजात्माकी अंतरप्रतीति धर्मीसे नहीं छूटती। आत्माके स्वभावकी ऐसी प्रतीति सम्यग्दर्शन है, और उसमें सर्वज्ञदेवकी वाणी निमित्तरूप है; उसमें जिसे संदेह है उस जीवको धर्म नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जिनवचनमें और जिनवाणीमें दर्शाये आत्मस्वभावमें प्रतीति कर सम्यग्दर्शनमें निश्चलरूपसे स्थिति करते हैं। ऐसे जीव जगतमें तीनोंकालमें विरले ही होते हैं। वे भले ही थोड़े हों तो भी वे प्रशंसनीय हैं। जगतके सामान्य जीव भले उन्हें नहीं पहिचाने परन्तु सर्वज्ञ भगवंतों, सन्तों और ज्ञानियोंके द्वारा वे प्रशंसाके पात्र हैं, भगवान और सन्तोंने उसे मोक्षमार्गमें स्वीकार किया है। जगत्में इससे बड़ी अन्य कोई प्रशंसा है? बाहरमें चाहे जैसा प्रतिकूल प्रसंग हो तो भी सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा पवित्र दर्शनसे चलायमान नहीं होता।

प्रश्नः—चारों ओर प्रतिकूलतासे घिरे हुए ऐसे दुखियाको सम्यग्दर्शन प्राप्तिका अवकाश कहांसे मिलेगा?

उत्तरः—भाई! सम्यग्दर्शनमें क्या कोई संयोगकी अवश्यकता है? प्रतिकूल संयोग कोई दुःखके कारण नहीं और अनुकूल संयोग कोई सम्यक्त्वका कारण नहीं; आत्मस्वरूपमें भ्रांति ही दुःखका कारण है और आत्मस्वरूपकी निर्भ्रान्त प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन सुखका कारण है। यह सम्यग्दर्शन कोई संयोगोंके आश्रयसे नहीं है, परन्तु अपने सहज स्वभावके ही आश्रयसे है। अरे! नरकमें तो कितनी असह्य प्रतिकूलता है। वहां खानेको अन्न या पीनेको पानी नहीं मिलता, सरदी-गरमीका पार नहीं, शरीरमें पीड़ाका पार नहीं, कुछ भी सुविधा नहीं, तो भी वहां पर (सातवें नरकमें भी) असंख्यात जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर चुके हैं;—उन्होंने किस आधारसे प्राप्त किया? संयोगका लक्ष छोड़ परिणतिको अंतरमें लगाकर आत्माके आश्रयसे सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है। नरकमें भी यह

सम्यग्दर्शन होता है तो यहाँ क्यों न होवे? यहाँ कोई नरक जितनी तो प्रतिकूलता नहीं है? आप अपनी रुचि पलट आत्माकी दृष्टि करे तो संयोग कोई विघ्न नहीं करते। अपनी रुचि न पलटावे और संयोगका दोष बतावे तो वह मिथ्याबुद्धि है।

यहाँ तो, पैसा होय अथवा पुण्य होय तो जीव प्रशंसनीय है ऐसा नहीं कहा है। परन्तु जिसके पास धर्म है वही जीव प्रशंसनीय है ऐसा कहा है। पैसा अथवा पुण्य क्या आत्माके स्वभावकी चीज हैं? जो अपने स्वभावकी चीज न हो उससे आत्माकी शोभा कैसे होवे? हे जीव! तेरी शोभा तो तेरे निर्मल भावोंसे है। अन्यसे तेरी शोभा नहीं। अन्तरस्वभावकी प्रतीति करके उसमें तू स्थित रह, इतनी ही तेरी मुक्तिकी देर है।

अनुकूल-प्रतिकूल संयोगके आधारसे धर्म-अधर्मका कोई माप नहीं है। धर्मी हो उसे प्रतिकूलता आवे ही नहीं—ऐसा नहीं है। हाँ इतना सत्य है कि प्रतिकूलतामें धर्मी जीव अपने धर्मको नहीं छोड़ता। कोई कहे कि धर्मीके पुत्र इत्यादि मरते ही नहीं, धर्मीके रोग होता ही नहीं, धर्मीके जहाज डूबते ही नहीं, तो इसकी बात सच्ची नहीं। इसको धर्मके स्वरूपकी खबर नहीं है। धर्मीको भी पूर्व पापका उदय होय तो ऐसा भी हो सकता है। कोई समय धर्मीके पुत्रादिकी आयु थोड़ी भी होवे और अज्ञानीके पुत्रादिकी आयु विशेष होय।—परन्तु उससे क्या? ये तो पूर्वके बँधे हुये शुभ-अशुभ कर्मके खेल हैं। इसके साथ धर्म-अधर्मका सम्बन्ध नहीं है। धर्मीकी शोभा तो अपनी आत्मासे ही है। संयोगसे इनकी कोई शोभा नहीं है। मिथ्यादृष्टिको संयोग कोई समय अनुकूल होवे, परन्तु अरे! मिथ्या-मार्गका सेवन यह महा दुःखका कारण है—इसकी प्रशंसा क्या? कुदृष्टिकी,—कुमार्गकी प्रशंसा धर्मी जीव नहीं करता।

सम्यक्प्रतीति द्वारा निजस्वभावसे जो जीव भरा हुआ है और पापके उदयके कारण संयोगसे रहित है (अर्थात् अनुकूल संयोग उसे नहीं) तो भी उसका जीवन प्रशंसनीय है—सुखी है। मैं मेरे सुखस्वभावसे भरा हुआ हूँ और संयोगसे खाली हूँ ऐसी अनुभूति धर्मीको सदा ही वर्तती है, वह सत्यका सत्कार करनेवाला है, आनंददायक अमृतमार्ग पर चलनेवाला है। और जो जीव स्वभावसे तो खाली है—पराश्रयकी श्रद्धा करता है अर्थात् आनंदसे भरे हुए निजस्वभावको जो नहीं देखता और विपरीत दृष्टिसे रागको ही धर्म मानता है, संयोगसे और पुण्यसे अपनेको भरा हुआ मानता है, वह जीव बाहरके संयोगसे सुखी जैसा दिखता हो तो भी वह वास्तवमें महा दुःखी है, संसारके ही मार्गमें है। बाहरका संयोग कोई वर्तमान धर्मका फल नहीं। धर्मी जीव बाहरसे चाहे खाली हो परन्तु अंतरमें भरे हुए स्वभावकी श्रद्धा, तद्रूप ज्ञान और बलसे वह केवलज्ञानी

होगा। और जो जीव संयोगसे भरा हुआ परन्तु स्वभाव-ज्ञानसे शून्य ( खाली ) है—वह सम्यग्दर्शनसे रहित है, वह विपरीत दृष्टिसे संसारमें कष्ट उठावेगा; आत्माको स्वभावसे भरा हुआ और संयोगसे खाली माना तो वह उसके फलमें संयोग रहित ऐसे सिद्धपदको प्राप्त करेगा।

संयोगसे आत्माकी महत्ता नहीं है। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि—

लक्ष्मी अने अधिकार वधतां शुं वध्युं ते तो कहो,
शुं कुटुंब के परिवारथी वधवापणुं अे नय ग्रहो?
वधवापणुं संसारनुं नर देहने हारी जवो,
अेनो विचार नहीं अहो हो! अेक पळ तमने हवो।

अरे, संयोगसे आत्माकी महत्ता मानी यह तो स्वभावको भूलकर इस अनमोल मनुष्यभवको हारने जैसा है। अतः हे भाई! इस मनुष्यभवको प्राप्त कर आत्माका भान कैसे हो और सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होकर भवभ्रमण कैसे मिटे उसका पुरुषार्थ कर।

जगतमें असत् मानने वाले बहुत होवें—उससे क्या और सत्य धर्म समझने वाले थोड़े ही हों—उससे क्या?—उससे कोई असत्की कीमत बढ़ जावे और सत्की कीमत घट जावे—ऐसा नहीं। कीड़ीके दल बहुतसे हों और मनुष्य थोड़े हों—उससे कोई कीड़ीकी कीमत बढ़ नहीं जाती। जगतमें सिद्ध सदा थोड़े और संसारी जीव बहुत हैं उससे सिद्धकी अपेक्षा संसारीकी कीमत क्या बढ़ गई? जैसे अफीमका चाहे बड़ा ढेला होवे तो भी वह कड़वा है, और शक्करकी छोटीसी कणिका हो तो भी वह मीठी है, उसी प्रकार मिथ्यामार्गमें करोड़ों जीव हों तो भी वह मार्ग जहर जैसा है, और सम्यक्मार्गमें चाहे थोड़े जीव हों तो भी वह मार्ग अमृत जैसा है। जैसे थाली चाहे सोनेकी हो परन्तु यदि उसमें जहर भरा हो तो वह नहीं शोभता और खानेवाला मरता है, उसी प्रकार कोई जीव चाहे पुण्यके ठाठके मध्यमें पड़ा हो परन्तु यदि वह मिथ्यात्वरूपी जहर सहित है तो वह नहीं शोभता, वह संसारमें भावमरण कर रहा है। परन्तु जिस प्रकार थाली चाहे लोहेकी हो किन्तु उसमें अमृत भरा हो तो वह शोभा पाती है और खानेवालेको तृप्ति देती है, उसी प्रकार चाहे प्रतिकूलताके समूहमें पड़ा हो परन्तु जो जीव सम्यग्दर्शनरूपी अमृतसे भरा हुआ है वह शोभता है, वह आत्माके परम सुखको अनुभवता है और अमृत जैसे सिद्धपदको प्राप्त करता है।

'परमात्मप्रकाश' पृष्ठ २०० में कहा है कि—

"वरं नरकवासोऽपि सम्यक्त्वेन हि संयुतः ।
न तु सम्यक्त्वहीनस्य निवासो दिवि राजते ॥"

सम्यक्त्व सहित जीवका नरकवास भी भला है और सम्यक्त्व रहित जीवका देवलोकमें निवास होना भी नहीं शोभता। सम्यग्दर्शन विना देवलोकके देव भी दुःखी ही हैं। शास्त्रमें तो उन्हें पापी कहा है—"सम्यक्त्वरहित जीवाः पुण्यसहिता अपि पापजीवा भण्यन्ते।"

—ऐसा जानकर श्रावकको सबसे पहले सम्यक्त्वकी आराधना करनी चाहिये।

पहली गाथामें भगवान सर्वज्ञदेवकी और उनकी वाणीकी पहिचान तथा श्रद्धा होने पर ही श्रावकधर्म होता है—ऐसा बतलाया; और दूसरी गाथामें ऐसी श्रद्धा करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव थोड़े होवें तो भी वे प्रशंसनीय हैं—ऐसा बतलाकर उसकी आराधनाका उपदेश दिया है। अब, तीसरी गाथामें श्री पद्मनंदी स्वामी उस सम्यग्दर्शनको मोक्षका बीज कहकर उसकी प्राप्तिके लिये परम उद्यम करनेको कहते हैं।



सर्वज्ञका धर्म सुशर्ण जाणी,
आराध, आराध! प्रभाव आणी;
अनाथ एकांत सनाथ थाशे,
एना विना कोई न बांह्य स्हाशे।



# [ ३ ]

## मोक्षका बीज सम्यक्त्व; संसारका बीज मिथ्यात्व

## (सम्यग्दर्शन हेतु परम प्रयत्नका उपदेश)

मोक्षका वीज सम्यग्दर्शन है और भवका बीज मिथ्यादर्शन है; अतः जो मोक्षके अभिलाषी हों ऐसे मुमुक्षु जीव मोक्षके बीजभूत सम्यग्दर्शनको अत्यंत प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करें। अनंतकालसे इस भवभ्रमण-में भटकते हुए कोई विरला प्राणी स्व-प्रत्यक्ष द्वारा उस सम्यग्दर्शन-को प्राप्त करता है। उसकी प्राप्तिके परम प्रयत्न हेतु ज्ञानीका उपदेश है।

बीजं मोक्षतरोर्दृशं भवतरोर्मिथ्यात्वमाहुर्जिनाः
प्राप्तायां दृशि तन्मुमुक्षुभिरलं यत्नो विधेयो बुधैः।
संसारे बहुयोनिजालजटिले भ्राम्यन् कुकर्मावृतः।
क्व प्राणी लभते महत्यपि गते काले हि तां तामिह ॥ ३ ॥

मोक्षरूपी वृक्षका बीज सम्यग्दर्शन है; और संसाररूपी वृक्षका बीज मिथ्यात्व है—ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेवने कहा है। इसलिये मुमुक्षुको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हेतु अत्यन्त प्रयत्न कर्तव्य है। अरे! संसारमें अनंत भवमें सम्यग्दर्शनके विना जीव कुकर्मोंसे भटक रहा है, दीर्घकाल व्यतीत होने पर भी प्राणी सम्यग्दर्शनको क्या पा सका है?—सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति महा दुर्लभ है। अतः हे जीव! तू सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये परम उद्यम कर; और उसको पाकर अत्यन्त यत्नसे उसकी रक्षा कर।

कुन्दकुन्दस्वामीने अष्टप्राभृतके प्रारम्भमें ही कहा है कि "दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं" अर्थात् जिनवरदेवने "दर्शन जिसका मूल है ऐसा धर्म" शिष्योंको उपदेशा है। जैसे विना मूल वृक्ष नहीं; वैसे सम्यग्दर्शन विना धर्म नहीं। चौदह गुण-स्थानोंमें सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानमें होता है और व्रत पांचवें गुणस्थानमें होते हैं,

मुनिदशा छठवें-सातवें गुणस्थानमें होती है। सम्यग्दर्शन विना मात्र शुभरागसे अपनेको पाँचवाँ-छठवाँ गुणस्थान अथवा धर्म माने या मोक्षमार्ग मान ले तो उसमें मिथ्यात्वका पोषण होता है; मोक्षमार्गके क्रमकी भी उसे खबर नहीं है। मोक्षमार्गमें पहले सम्यग्दर्शन है, उसके विना धर्मका प्रारम्भ नहीं होता, उसके विना श्रावकपना या मुनिपना सच्चा नहीं होता। अरे जीव! धर्मका स्वरूप क्या है और मोक्षमार्गका क्रम क्या है उसे पहले जानो। सम्यग्दर्शनके विना पुण्य तूने अनन्तवार किया तो भी तू संसारमें ही भटका और तूने दुःख ही भोगे। अतः समझ ले कि पुण्य कोई मोक्षका साधन नहीं है। मोक्षका बीज तो सम्यग्दर्शन है।

वह सम्यग्दर्शन कैसे होता है? रागादि अशुद्धता विना आत्माका शुद्ध भूतार्थ-स्वभाव क्या है उसकी अनुभूतिसे ही आत्मा सम्यग्दृष्टि होता है। जिस समयसे सम्यग्-दृष्टि होता है उसी समयसे ही मोक्षमार्गी होता है। पश्चात् इसी भूतार्थस्वभावके अवलम्बनसे आगे बढ़ते-बढ़ते शुद्धि अनुसार पाँचवाँ-सातवाँ इत्यादि गुणस्थान प्रगट होते हैं। चौथेकी अपेक्षा पाँचवें गुणस्थानमें स्वभावका विशेष अवलम्बन है, वहाँ अप्रत्याख्यान सम्बन्धी चारों कषायें भी छूट गई हैं और वीतरागी आनन्द बढ़ गया है। सर्वार्थसिद्धिके देवकी अपेक्षा पंचम गुणस्थानवर्ती मेंढ़कको आत्माका आनन्द अधिक है, परन्तु यह दशा सम्यग्दर्शन पूर्वक ही होती है। अतः सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका परम प्रयत्न कर्तव्य है।

अरे, चौरासीके अवतारमें सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति बहुत ही दुर्लभ है। सम्यक्त्वीके रागादि परिणाम आते हुए भी उसकी अन्तरकी दृष्टिमेंसे शुद्धस्वभाव कभी भी खिसकता नहीं है। यहाँ श्रावकके व्रतरूप शुभभाव करनेका उपदेश दिया जावेगा, तो भी धर्मीकी दृष्टिमें रागकी मुख्यता नहीं परन्तु मुख्यता शुद्ध स्वभावकी ही है। दृष्टिमें यदि स्वभावकी मुख्यता छूटकर रागकी मुख्यता हो जाये तो सम्यग्दर्शन भी न रहे। शुद्धस्वभावमें मोक्षदशाको विकसित कर देनेकी शक्ति है। जिसने इस शुद्ध स्वभावको प्रतीतिमें लेकर सम्यग्दर्शन प्रगट किया उसने मोक्षका वृक्ष आत्मामें बो दिया, और चौरासीके अवतारका बीज उसने जला दिया। अतः हे मुमुक्षु! तू ऐसे सम्यक्त्वका परम उद्यम कर।

जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं वहाँ धर्म नहीं है। जिसे भूतार्थस्वभावका भान नहीं और रागमें एकत्वबुद्धि है उसे धर्म कैसा? वह शुभरागसे व्रतादि करे तो भी वह बालव्रत है। और उस बालव्रतके रागको धर्म माने तो "बकरी निकालते ऊँट प्रवेश कर गया" ऐसा होता है—इसलिए थोड़ा अशुभको छोड़कर शुभको धर्म मानने गया वहाँ मिथ्यात्व-

का मोटा अशुभरूपी ऊँट ही प्रवेश कर गया। अतः श्रावकको सबसे पहले सर्वज्ञके वचनानुसार यथार्थ वस्तुस्वरूप जानकर, परम उद्यम पूर्वक सम्यक्त्व प्रगट करना चाहिए। जीवकी शोभा सम्यक्त्वसे ही है।

संयोग चाहे जितने प्रतिकूल हों परन्तु अन्तरंगमें चिदानन्दस्वभावकी प्रतीति करके श्रद्धामें पूर्ण आत्माकी अनुकूलता प्रगट की—तो वह धन्य है।

आत्माके स्वभावसे विरुद्ध मान्यतारूप उल्टी श्रद्धा बड़ा अवगुण है; बाहरकी प्रतिकूलता होना अवगुण नहीं है।

अन्तरमें चिदानन्दस्वभावकी प्रतीति करके मोक्षमार्ग प्रगट करना महान सद्गुण है। बाहरमें अनुकूलताका ठाट होना कोई गुण नहीं है।

आत्माकी धर्मसम्पदा किससे प्रगट होती है? उसकी जिसे खबर नहीं वही महान दरिद्री है और भव-भवमें भटककर दुःखको भोगता है। जिस धर्मात्माको आत्माकी स्वभाव सम्पदाका भान हुआ है उनके पास तो इतना बड़ा चैतन्यखजाना भरा है कि उसमेंसे केवलज्ञान और सिद्धपद प्रगटेगा। वर्तमानमें पुण्यका ठाट भले न हो तो भी वह जीव महान प्रशंसनीय है। अहो! दरिद्र समकिती भी केवलीका अनुगामी है। वह सर्वज्ञके मार्ग पर चलने वाला है। उसने आत्मामें मोक्षके बीज बो दिये हैं। अल्पकालमें उसमेंसे मोक्षका झाड़ फलेगा, पुण्यमेंसे तो संयोग फलेगा और सम्यग्दर्शनमेंसे मोक्षका मीठा फल पकेगा।

देखो! इस सम्यग्दर्शनकी महिमा! समकिती अर्थात् परमात्माका पुत्र। जैन कुलमें जन्म हुआ, इससे कोई मान ले कि हम श्रावक हैं, परन्तु भाई! श्रावक अर्थात् परमात्माका पुत्र; "परमात्माका पुत्र" कैसे हो उसकी यह रीति कही जाती है—

भेदविज्ञान जग्यो जिन्हके घट, शीतल चित्त भयो जिम चंदन;
केलि करें शिवमारगमें जगमांहीं जिनेश्वरके लघुनन्दन.

जहाँ भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन प्रगट किया वहाँ अंतरमें अपूर्व शांतिको अनुभवता हुआ जीव मोक्षके मार्गमें केलि करता है, और जगतमें वह जिनेश्वरदेवका लघुनन्दन है। मुनि बड़ा पुत्र है और समकिती छोटा पुत्र है। आदिपुराणमें भी जिनसेनस्वामीने (सर्ग २ श्लोक ५४ में) गौतम गणधरको "सर्वज्ञपुत्र" कहा है, उसी प्रकार यहाँ समकितीको जिनेश्वरका लघुनन्दन अर्थात् भगवानका छोटा पुत्र कहा है। अहा, जिसे जब सम्यग्दर्शन हुआ वहीं वह केवली भगवानका पुत्र हुआ, भगवानका उत्तराधिकारी हुआ,

सर्वज्ञपदका साधक हुआ। किसीको पुण्ययोगसे पिताकी विशाल सम्पत्तिका उत्तराधिकार मिले परन्तु वह तो क्षणमें नष्ट हो जाती है, और यह समकिती तो केवलज्ञानी-सर्वज्ञ पिताकी अक्षयनिधिका उत्तराधिकारी हुआ है, वह निधि कभी समाप्त नहीं होती, आदि-अनन्त रहती है। सम्यग्दर्शनसे ऐसी दशा प्रगट करे वह श्रावक कहलाता है। अतः श्रावकधर्मके उपासकको निरन्तर प्रयत्नपूर्वक सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिए।

जिस प्रकार आम्रका बीज आमकी गुठली होती है; कोई कड़वी निम्बोलीके बीजमेंसे मधुर आम नहीं पकते, उसी प्रकार मोक्षरूपी जो मीठा आम उसका बीज तो सम्यग्दर्शन है, पुण्यादि विकार मोक्षका बीज नहीं है। भाई, तेरे मोक्षका बीज तेरे स्वभावकी जातिका हो परन्तु उससे विरुद्ध न हो। मोक्ष अर्थात् पूर्ण आनन्दरूप वीतरागदशा, तो उसका बीज राग कैसे होवे? राग मिश्रित विचारोंसे भी पार होकर निर्विकल्प आनन्दके अनुभव सहित आत्माकी प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शन है, और वही मोक्षका मूल है।

मोक्षका बीज सम्यग्दर्शन और उस सम्यग्दर्शनका बीज आत्माका भूतार्थस्वभाव —"भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो" भूतार्थस्वभावका आश्रय करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि है। मोक्षका मूल सम्यग्दर्शन है, ऐसा कहा परन्तु यदि कोई उस सम्यग्दर्शनका स्वरूप अन्य प्रकार माने तो उसे भी मार्गकी खबर नहीं है। सम्यग्दर्शन अन्यके आश्रय नहीं, आत्माके स्वभावके आश्रयसे ही सम्यग्दर्शन है।

प्रश्नः—मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप कहा है ना?

उत्तरः—यह सत्य ही है, पर उसमें बीजरूप सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान अथवा चारित्र नहीं होता। पहले सम्यग्दर्शन होता है पीछे ही ज्ञान-चारित्र पूर्ण होने पर मोक्ष होता है। पुरुषार्थसिद्धयुपायमें अमृतचन्द्रस्वामीने भी कहा है कि—

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यं।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति ॥ २० ॥

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥ २१ ॥

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीन स्वरूप मोक्षमार्ग है, उसका गृहस्थोंको सदा यथाशक्ति सेवन करना चाहिये। उन तीनमें पहले सम्यक्त्व है। वह पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा

अंगीकार करने योग्य है। क्योंकि उसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र होते हैं। सम्यक्दर्शन विना ज्ञान या चारित्र मोक्षके साधक नहीं होते। और सम्यक्त्व सहित यथाशक्ति मोक्षमार्गका सेवन गृहस्थको भी होता है—ऐसा वतलाया।

सम्यग्दर्शनके पश्चात् जो राग-द्वेष हैं वे अत्यन्त अल्प हैं, और उनमें धर्मीको एकत्वबुद्धि नहीं है। मिथ्यादृष्टिको राग-द्वेषमें एकत्वबुद्धि है अर्थात् उसको अनन्तानुवन्धी राग-द्वेष अनन्त संसारका कारण है। इस प्रकार मिथ्यात्व संसारका वीज है और सम्यक्दर्शन होने पर उसका छेद होकर मोक्षका वीजारोपण होता है। सम्यक्दर्शनरूपी 'बीज' उत्पन्न हुआ यह वढ़कर केवलज्ञानरूपी पूर्णिमा होकर छोड़ेगा। सम्यक्त्व कहता है कि "मुझे ग्रहण करनेसे ग्रहण करनेवालेकी इच्छा न हो तो भी मुझे उसे जवरन मोक्ष ले जाना पड़ता है;—इसलिये मुझे ग्रहण करनेके पहले यह विचार कर लो कि मोक्ष जानेकी इच्छा पलट दूँ तो भी वह काम आने की नहीं है। मुझे ग्रहण करनेके पश्चात् तो मुझे उसे मोक्ष पहुँचाना ही चाहिये यह मेरी प्रतिज्ञा है।"—ऐसा कहकर श्रीमद् राजचन्द्रजीने सम्यक्त्वकी महिमा वतलाई है और उसे मोक्षका मूल कहा है। सम्यक्त्व अंगीकार करे और मोक्ष न हो ऐसा नहीं वनता। और सम्यक्त्व विना मोक्ष हो जाय ऐसा भी नहीं वनता। इसलिये परम यत्नसे सम्यक्दर्शन प्रगट करनेका उपदेश है।

अहा! सम्यक्दर्शन होते ही चैतन्यके भंडारकी तिजोरी खुल गई। अव उसमेंसे ज्ञान-आनन्दका माल जितना चाहो उतना वहार निकालो। पहले मिथ्यात्वके तालेमें चैतन्यका खजाना वंद था; अव सम्यक्दर्शनरूपी चावीसे खोलते ही चैतन्यका अक्षय भंडार प्रगट हुआ; वह सादि अनन्तकाल पर्यन्त इसमेंसे केवलज्ञान और पूर्णानन्द लिया ही करे...लिया ही करे...तो भी वह भंडार समाप्त हो ऐसा नहीं है। उसी प्रकार वह कम हो जाय ऐसा भी नहीं है। अहा! सर्वज्ञ प्रभु और वीतरागी सन्तोंने ऐसा चैतन्यभंडार खोलकर वतलाया है। तो उसे कौन न लेवे? कौन अनुभव न करे?

सम्यक्दर्शन विना, चाहे जितना करे तो भी चैतन्यका भंडार नहीं खुलता। मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता, श्रावकपना भी नहीं होता। जो जीव सच्चे देव-गुरु-धर्मका विरोध करता है और कुदेव, कुगुरु, कुधर्मका आदर करता है उसे तो व्यवहारसे भी श्रावकपना नहीं होता वह तो मिथ्यात्वके तीव्र पापमें डूवा हुआ है। ऐसे जीवको तो पूर्वका पुण्य हो तो वह भी घट जाता है। ऐसे जीवको तो महा पापी कहकर पहली ही गाथामें निषेध किया है। उसमें तो धर्मकी भी योग्यता नहीं है। यहाँ तो सच्चा श्रावक-

धर्मात्मा होनेके लिये सबसे पहले सर्वज्ञदेवकी पहचानपूर्वक सम्यक्‌दर्शनको शुद्ध करनेका उपदेश है।

कोई कहे कि "हमने दिगम्बर धर्मके संप्रदायमें जन्म धारण किया है इसलिये सम्यक्‌दर्शन तो हमको होता ही है।"-तो यह बात सच्ची नहीं। जैसा सर्वज्ञदेवने कहा वैसा अपने चैतन्यस्वभावको पहचाने बिना कभी सम्यग्दर्शन नहीं होता। दिगम्बर धर्म तो सच्चा है; परन्तु तू स्वयं समझे तब ना! समझे बिना इस सत्यका तुझे क्या लाभ? तेरे भगवान और गुरु तो सच्चे हैं परन्तु उनका स्वरूप पहचाने तभी तू सच्चा होगा। पहचान बिना तुझे क्या लाभ? (समझे बिना उपकार क्या?)

धर्मकी भूमिका सम्यग्दर्शन है, और मिथ्यात्व बड़ा पाप है। मिथ्यादृष्टि मन्द कषाय करके उसे मोक्षका कारण माने वहाँ उसे अल्प पुण्यके साथ मिथ्यात्वका बड़ा पाप बँधता है। इसलिये मिथ्यात्वको भगवानने भवका बीज कहा है। मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य करे तो भी वह उसे मोक्षका कारण नहीं होता, समकितीको पुण्य-पाप होते हुए भी वे उसे संसारका बीज नहीं हैं। समकितीको सम्यक्त्वमेंसे मोक्षकी फसल आवेगी; और मिथ्यादृष्टिको मिथ्यात्वमेंसे संसारका फल आवेगा। इसलिये मोक्षाभिलाषी जीवोंको सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका और उसकी रक्षाका परम उद्यम करना चाहिए।

जो सम्यग्दर्शनका उद्यम नहीं करते और पुण्यको मोक्षका साधन समझकर उसकी रुचिमें अटक जाते हैं उनसे कहते हैं कि अरे मूढ़! तुझे भगवानकी भक्ति करना नहीं आती; भगवान तेरी भक्तिको स्वीकार नहीं करते, क्योंकि तेरे ज्ञानमें तूने भगवानको स्वीकार नहीं किया। अपने सर्वज्ञस्वभावको जिसने पहचाना उसने भगवानको स्वीकार किया, और भगवानने उसे मोक्षमार्गमें स्वीकार किया, वह भगवानका सच्चा भक्त हुआ। दुनिया चाहे उसे न माने या पागल कहे परन्तु भगवानने और सन्तोंने उसे मोक्षमार्गमें स्वीकार किया है, भगवानके घरमें वह प्रथम है। भगवानके ज्ञानमें जिसकी महा-पात्रता भासित हुई उसके समान बड़ा अभिनन्दन (सन्मान) क्या? वह तो तीन लोकमें सबसे महान् सर्वज्ञताको प्राप्त होगा। और दुनिया भले पूजती हो, परन्तु भगवानने जिसे धर्मके लिये अयोग्य कहा तो उसके समान अपमान अन्य क्या? अहा, भगवानकी वाणीमें जिस जीवके लिये ऐसा आया कि यह जीव तीर्थंकर होगा, यह जीव गणधर होगा—तो उसके समान महा भाग्य अन्य क्या? सर्वज्ञके मार्गमें सम्यग्दृष्टिका बड़ा सन्मान है, और मिथ्यादृष्टिपना ही बड़ा अपमान है।

इस घोर दुःखसे भरे हुए संसारमें भटकते जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त होना बहुत

दुर्लभ है; परन्तु वह धर्मका मूल है—ऐसा समझकर आत्मार्थीको पहले ही उसका उद्यम करना चाहिये। यदि मुनिदशा हो सके तो करना, और वह न हो सके तो श्रावकधर्मका पालन करना—ऐसा कहते हैं, परन्तु उन दोनोंमें सम्यग्दर्शन तो पहले होना चाहिये,—यह मूलभूत रखकर पीछे मुनिधर्म या श्रावकधर्मकी बात है।

प्रश्नः—सम्यग्दर्शन किस प्रकार होता है?

उत्तरः—'भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो' अर्थात् संयोग और विकार रहित शुद्ध चिदानन्दस्वभाव कैसा है उसे लक्षमें लेकर अनुभव करनेसे सम्यग्दर्शन होता है; अन्य किसीके आश्रयसे सम्यग्दर्शन नहीं होता। संयोग या बन्धभाव जितना ही आत्माका अनुभव करना और ज्ञानमय अबन्धस्वभावी आत्माको भूल जाना वह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व सहितकी सब क्रियाएँ वे एक इकाई बिना की शून्योंकी तरह धर्मके लिये व्यर्थ हैं। छहढालामें पंडित दौलतरामजीने भी कहा है कि—

मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।

गणधरादि सन्तोंने सम्यग्दर्शनको मोक्षका बीज कहा है। यदि कोई बीजके बिना वृक्ष उगाना चाहे तो कैसे उगे?—उसे लोग मूर्ख कहते हैं। उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके बिना जो धर्मरूपी वृक्ष लगाना चाहते हैं वे भी परमार्थसे मूर्ख हैं। जिन्हें अन्तरमें रागके साथ एकताबुद्धि अत्यन्त टूट गई है और बाह्यमें वस्त्रादिका परिग्रह छूट गया है ऐसे वीतरागी सन्त महात्माका यह कथन है। जीवको अनन्तकालमें अन्य सब कुछ मिला है परन्तु शुद्ध सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई। महान देव और राजा-महाराजा अनन्तबार हुआ, उसी प्रकार घोर नरक-तिर्यंचके दुःख भी अनन्तबार भोगे; परन्तु मैं स्वयं ज्ञान-गुणका भण्डार और आनन्दस्वरूप हूँ—ऐसी आत्मप्रतीति या अनुभव उसने पूर्वमें कभी नहीं किया। सन्त करुणा पूर्वक कहते हैं कि हे भाई! तुझे ऐसे चैतन्यतत्त्वकी प्रतीति-का अवसर पुनः पुनः कहाँ मिलेगा? इसलिये ऐसा अवसर प्राप्त कर उसका उद्यम कर; ताकि भव-दुःखसे तेरा छुटकारा हो।

इस सम्यग्दर्शनका साधन क्या है? तो कहते हैं कि भाई, तेरे सम्यग्दर्शनका साधन तो तेरेमें होता है कि तेरेसे बाहर होता है? आत्मा स्वयं सत्स्वभावी सर्वज्ञ-स्वभावी परमात्मा है उसमें अन्तर्मुख होनेसे ही परमात्मा होता है; बाहरके साधनसे

नहीं होते। अन्तरमें देखनेवाला अन्तरात्मा है और बाहरमें माननेवाला बहिरात्मा है।

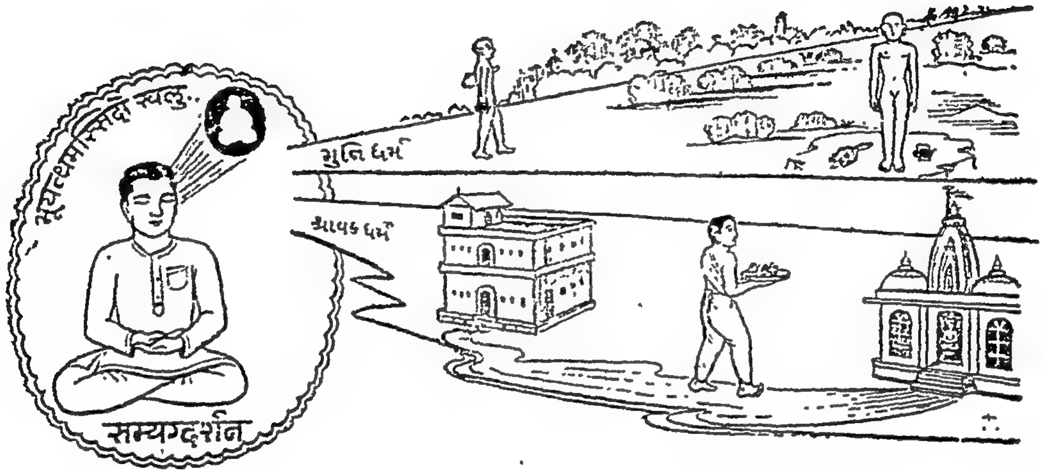
जैसे आमकी गुठलीमेंसे आम और बबूलमेंसे बबूल फलता है, उसी प्रकार आत्म-प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शनमेंसे तो मोक्षके आम फलते हैं; और मिथ्यात्वरूप बबूलमेंसे बबूल जैसी संसारकी चार गति फूटती हैं। शुद्धस्वभावमेंसे संसरण करके ( बाहर निकलके ) विकारभावमें परिणमित होना संसार है। शुद्धस्वभावके आश्रयसे विकारका अभाव और पूर्णानन्दकी प्राप्ति मोक्ष है। इस प्रकार आत्माका संसार और मोक्ष सभी स्वयंमें ही समाविष्ट है, उसका कारण भी स्वयंमें ही है। बाहरकी अन्य वस्तु कोई आत्माके संसार-मोक्षका कारण नहीं है।

जो आत्माका पूर्ण अस्तित्व माने, संसार और मोक्षको माने, चार गति माने, चारों गतियोंमें दुःख लगे और उससे छूटना चाहे—ऐसे आस्तिक जिज्ञासु जीवकी यह बात है। जगतमें भिन्न-भिन्न अनन्त आत्माएँ अनादि-अनन्त हैं। आत्मा अभी तक कहाँ रहा? कि आत्मभानके बिना संसारकी भिन्न-भिन्न गतियोंमें भिन्न शरीर धारण करके दुःखी हुआ। अब उनसे कैसा छूटा जाय और मोक्ष कैसे प्राप्त हो उसकी यह बात है। अरे जीव! अज्ञानसे इस संसारमें तूने जो दुःख भोगे उनकी क्या बात? उसमें सत्-समागम सत्य समझनेका यह उत्तम अवसर आया है, ऐसे समय जो आत्माकी दरकार करके सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं करे तो समुद्रमें डाल दिये रत्नकी तरह इस भवसमुद्रमें तेरा कहीं ठिकाना नहीं लगेगा, पुनः पुनः ऐसा उत्तम अवसर हाथ नहीं आता। अतः सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति महा दुर्लभ जानकर उसका परम उद्यम कर।

यहाँ तो सम्यग्दर्शनके पश्चात् श्रावकके व्रतका प्रकाशन करना है; परन्तु उनके पूर्व यह बताया है कि व्रतकी भूमिका सम्यक्त्व है; सम्यग्दृष्टिको राग करनेकी बुद्धि नहीं, राग द्वारा मोक्षमार्ग सधेगा ऐसा वह नहीं मानता; उसे भूमिका अनुसार रागके त्याग-रूप व्रत होते हैं। व्रतमें जो शुभराग रहा उसे वह श्रद्धामें आदरणीय नहीं मानता। चैतन्यस्वरूपमें थोड़ी एकाग्रता होते ही अनन्तानुबन्धी कषाय पश्चात् अप्रत्याख्यान सम्बन्धी कषायोंका अभाव होकर पंचम गुणस्थानके योग्य जो शुद्धि हुई वह सच्चा धर्म है। चौथे गुणस्थानवर्ती सर्वार्थसिद्धिके देवकी अपेक्षा पाँचवें गुणस्थान वाले श्रावकको आत्माका आनन्द विशेष है;—पश्चात् भले ही वह मनुष्य हो या तिर्यंच। उत्तम पुरुषोंको सम्यग्दर्शन प्रगट कर मुनिके महाव्रत या श्रावकके देशव्रतका पालन करना चाहिये। रागमें किसी प्रकार एकत्वबुद्धि नहीं हो और शुद्ध स्वभावकी दृष्टि नहीं छूटे—इस प्रकार सम्यग्दर्शनके निरन्तर पालनपूर्वक धर्मका उपदेश है।

अरे जीव! इस तीव्र संक्लेशसे भरे संसारमें भ्रमण करते हुए सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति अति दुर्लभ है। जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया उसने आत्मामें मोक्षका वृक्ष बोया है। इसलिये सर्व उद्यमसे सम्यग्दर्शनका सेवन कर।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके पश्चात् क्या करना वह अब चौथे श्लोकमें करते हैं—






## जीवनकी सफलता

अरे, जगतके जीव अपने चैतन्यसुखको भूलकर विषय-कषायमें सुख मान रहे हैं, परन्तु अपना जो चैतन्यसुख है उसकी सुरक्षाका अवकाश नहीं लेते; उनका जीवन तो विषयोंमें नष्ट होजायेगा और व्यर्थ चला जायेगा। विषयोंसे विरक्त होकर आत्मिक सुखके अभ्यासमें जो जीवन बीतता है वही सफल है।



# सम्यक्त्वपूर्वक व्रतका उपदेश

[ ४ ]

हे भाई! आत्माको भूलकर भवमें भटकते अनन्तकाल बीत गया, उसमें अति मूल्यवान यह मनुष्य अवतार और धर्मका ऐसा दुर्लभ-योग तुझे प्राप्त हुआ है, तो अब परमात्मा जैसा ही तेरा जो स्वभाव है उसे दृष्टिमें लेकर मोक्षका साधन कर, प्रयत्नपूर्वक सम्यक्त्व प्रगट कर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्मकी उपासना कर, और यदि इतना न बन सके तो श्रावकधर्मका जरूर पालन कर।

卐

सम्प्राप्तेऽत्रभवे कथं कथमपि द्राघीयसाऽनेहसा।
मानुष्ये शुचिदर्शने च महता कार्यं तपो मोक्षदम्॥
नो चेत्लोकनिषेधतोऽथ महतो मोहादशक्तेरथ।
सम्पद्येत न तत्तदा गृहवतां षट्कर्मयोग्य व्रतं॥ ४॥

अनादिकालसे इस संसारमें भ्रमण करते हुए जीवको मनुष्यपना प्राप्त होना कठिन है। और उसमें भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति अति दुर्लभ है। इस भवमें भ्रमण करते-करते दीर्घकालमें ऐसा मनुष्यपना और सम्यग्दर्शन प्राप्त करके उत्तम पुरुषोंको तो मोक्षदायक ऐसा तप करना योग्य है अर्थात् मुनिदशा प्रगट करना योग्य है; और जो लोकके निषेधसे, मोहकी तीव्रतासे और निजकी अशक्तिसे मुनिपना नहीं लिया जासके तो गृहस्थके योग्य देवपूजा आदि षट्कर्म तथा व्रतोंका पालन करना चाहिये।

मुनिराज कहते हैं कि हे भव्य! ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त कर आत्महितके लिये तू मुनिधर्म अंगीकार कर, और जो तुझसे इतना न हो सके तो श्रावकधर्मका तो अवश्य पालन कर। परन्तु दोनों सम्यग्दर्शन सहित होनेकी बात है। मुनिधर्म या श्रावकधर्म दोनोंके मूलमें सम्यग्दर्शन और सर्वज्ञकी पहिचान सहित आगे बढ़नेकी बात है। जिसे यह सम्यग्दर्शन न हो सके तो प्रथम उसका उद्यम करना चाहिये।—यह बात तो प्रथम तीन गाथाओंमें बता आये हैं; उसके पश्चात् आगेकी भूमिकाकी यह बात है।

सम्यग्दृष्टिकी भावना तो मुनिपनेकी ही होती है; अहो! कब चैतन्यमें लीन होकर सर्व संगका परित्यागी होकर मुनिमार्गमें विचरण करूँ? शुद्धरत्नत्रयस्वरूप जो उत्कृष्ट मोक्षमार्ग उस रूप कब परिणमित होऊँ?

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे!
क्यारे थइशुं बाह्यान्तर निर्ग्रंथ जो,
सर्वसंबंधनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने,
विचरशुं कव महत्पुरुषने पंथ जो।

तीर्थंकर और अरिहंत मुनि होकर चैतन्यके जिस मार्ग पर विचरे उस मार्ग पर विचरण करूँ ऐसा धन्य स्वकाल कब आवेगा!-इस प्रकार आत्माके भानपूर्वक धर्मी जीव भावना भाते हैं। ऐसी भावना होते हुए भी निजशक्तिकी मंदतासे और निमित्त-रूपसे चारित्रमोहकी तीव्रतासे तथा कुटुम्बीजनों आदिके आग्रहवश होकर स्वयं ऐसा मुनिपद ग्रहण नहीं कर सके तो वह धर्मात्मा गृहस्थपनेमें रहकर श्रावकके धर्मका पालन करे—ऐसा यहाँ बतलाया है।

श्री पद्मनन्दीस्वामीने श्रावकके छह कर्तव्य बतलाये हैं—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिनेदिने ॥ ७ ॥

( पद्मनंदी–उपासक संस्कार )

भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा, निर्ग्रन्थ गुरुओंकी उपासना, वीतरागी जैनशास्त्रोंका स्वाध्याय, संयम, तप और दान—ये छह कार्य गृहस्थ श्रावकको प्रतिदिन करने योग्य हैं। मुनिपना न हो सके तो दृष्टिकी शुद्धता पूर्वक इन छह कर्तव्यों द्वारा श्रावकधर्मका पालन तो अवश्य करना चाहिए।

भाई, ऐसा अमूल्य मनुष्य-जीवन प्राप्त कर यों ही चला जावे,—उसमें तू सर्वज्ञदेव-की पहचान न करे, सम्यग्दर्शनका सेवन न करे, शास्त्रस्वाध्याय न करे, धर्मात्माकी सेवा न करे और कषायोंकी मन्दता न करे तो इस जीवनमें तूने क्या किया? आत्माको भूलकर संसारमें भटकते अनन्तकाल वीत गया, उसमें महा मूल्यवान यह मनुष्यभव और धर्मका ऐसा दुर्लभ योग मिला, तो अब परमात्माके समान जो तेरा स्वभाव उसे दृष्टिमें लेकर मोक्षका साधन कर। यह शरीर और संयोग तो क्षणभंगुर हैं, उनमें तो कहीं

सुखकी छाया भी नहीं है। सुखियोंमें पूर्ण सुखी तो सर्वज्ञ परमात्मा हैं, दूसरे सुखी मुनिवर हैं—जो आनन्दकी ऊर्मिपूर्वक सर्वज्ञपदको साध रहे हैं और तीसरे सुखी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा हैं—जिन्होंने चैतन्यके परम आनन्दस्वभावको प्रतीतिमें लिया है और उसका स्वाद चखा है। ऐसे सुखका अभिलाषी जीव प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करके मुनिधर्म, या श्रावकधर्मका पालन करता है, उसका यह उपदेश है।

संसार-परिभ्रमणमें जीवको प्रथम तो निगोदादि एकेन्द्रियमेंसे निकलकर त्रसपना पाना बहुत दुर्लभ है, त्रसपनामें भी पंचेन्द्रियपना और मनुष्यपना प्राप्त करना अति दुर्लभ है; दुर्लभ होते हुए भी जीव अनन्तवार उसे प्राप्त कर चुका है परन्तु सम्यग्दर्शन उसने कभी प्राप्त नहीं किया। इसलिये मुनिराज कहते हैं कि हे भव्य जीव! ऐसे दुर्लभ मनुष्यपनेमें तू सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति करके शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्मकी उपासना कर; और इतना न बन सके तो श्रावकधर्मका पालन अवश्य कर।

देखो, यहाँ यह भी कहा कि जो मुनिपना न हो सके तो श्रावकधर्म पालना, परन्तु मुनिपनेका स्वरूप अन्यथा नहीं मानना। शुद्धोपयोगके बिना मात्र रागको या वस्त्रके त्यागको मुनिपना मान ले तो वह श्रद्धा भी सच्ची नहीं रहती अर्थात् उसे तो श्रावकधर्म भी नहीं होता। चाहे कदाचित् मुनिपना न ले सके परन्तु अन्तरंगमें उस स्वरूपकी प्रतीति बराबर प्रज्वलित रखे तो सम्यग्दर्शन टिका रहेगा; इसलिये तुझसे विशेष न हो सके तो जितना हो सके उतना ही करना। श्रद्धा सच्ची होगी तो उसके बलसे मोक्षमार्ग टिका रहेगा। श्रद्धामें ही गड़बड़ी करेगा तो मोक्षमार्ग भ्रष्ट हो जायेगा।

सम्यग्दर्शनके द्वारा जिन्होंने शुद्धात्माको प्रतीतिमें लिया, उसमें उग्र लीनतासे शुद्धोपयोग प्रगट हो और प्रचुर आनन्दका संवेदन अन्तरमें हो रहा हो, बाह्यमें वस्त्रादि परिग्रह छूट गया हो—ऐसी मुनिदशा है। अहो, इसमें तो बहुत वीतरागता है, यह तो परमेष्ठी पद है। कुन्दकुन्दस्वामी स्वयं ऐसी मुनिदशामें थे, उन्होंने प्रवचनसारके मंगलाचरणमें पंचपरमेष्ठी भगवन्तोंको वन्दन किया है, उन्होंने उसमें कहा है कि "जिन्होंने परम शुद्ध उपयोग भूमिकाको प्राप्त किया है ऐसे साधुओंको प्रणाम करता हूँ" शुद्धोपयोगका नाम चारित्रदशा है, मोह और क्षोभ बिना जो आत्मपरिणाम वह चारित्रधर्म है, वही मुनिपना है। मुनिमार्ग क्या है उसकी जगत्को खबर नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्य जिस पदको नमस्कार करें—वह मुनिपद कैसा? यहाँ "णमो लोए सव्व साहूणम्" ऐसा कहकर पंचपरमेष्ठी पदमें उन्हें नमस्कार किया जाता है—इस साधुपदकी महिमाकी क्या बात!! यह तो मोक्षका साक्षात् कारण है।

यहाँ कहते हैं कि हे जीव! मोक्षका साक्षात् कारण शुद्ध चारित्रको तू अंगीकार कर. सम्यग्दर्शन पश्चात् ऐसी चारित्रदशा प्रगट कर। चारित्रदशा बिना मोक्ष नहीं है। क्षायिक सम्यक्त्व और तीन ज्ञान सहित ऐसे तीर्थंकर भी जब शुद्धोपयोगरूप चारित्रदशा प्रगट करते हैं तभी मुनिपना और केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। इसलिये सम्यग्दर्शन प्राप्त करके ऐसी चारित्रदशा प्रगट करना ही उत्तम मार्ग है। परन्तु लोक निषेधसे और स्वयंके परिणाममें उस प्रकारकी शिथिलतासे जो चारित्रदशा न ली जा सके तो श्रावकके योग्य व्रतादि करे। दिगम्बर मुनिदशा पालनेमें तो बहुत वीतरागता है; परिणामोंकी शक्ति न देखे और ज्यों त्यों मुनिपना ले ले और पीछे पालन न कर सके तो उल्टे मुनिमार्गकी निन्दा होती है इसलिये अपने शुद्धपरिणामकी शक्ति देखकर मुनिपना लेना। शक्तिकी मन्दता हो तो मुनिपनेकी भावनापूर्वक श्रावकधर्मका आचरण करना। परन्तु उसके मूलमें सम्यग्दर्शन तो पहले होता ही है, उसमें कमजोरी नहीं चलती। सम्यक्त्वमें थोड़ा व अधिक ऐसा भेद पड़ता है।

भूतार्थके आश्रित श्रावकको दो कषायोंके अभाव जितनी शुद्धि है और मुनिको तीन कषायोंके अभाव जितनी शुद्धि है; जितनी शुद्धता उतना निश्चयधर्म है; स्वरूपाचरणरूप स्वसमय है और उतना मोक्षमार्ग है, और उस भूमिकामें देव-पूजा आदिका या पंचमहाव्रतादिका जो शुभराग है वह व्यवहारधर्म है, वह मोक्षका कारण नहीं है परन्तु पुण्यास्रवका कारण है।—इस प्रकार शुद्धता और रागके मध्यका भेद पहचानना चाहिये। सम्यक्त्वरूप भावशुद्धिके बिना मात्र शुभ या अशुभभाव तो अनादिसे सब जीवोंमें हुआ ही करते हैं; उस अकेले शुभको वास्तविक व्यवहार नहीं कहते। निश्चय बिना व्यवहार कैसा? निश्चयपूर्वक जो शुभरागरूप व्यवहार है वह भी कोई वास्तविक धर्म नहीं है; तो फिर निश्चय बिना अकेले शुभरागकी क्या बात?—वह तो वास्तवमें व्यवहारधर्म भी नहीं कहलाता।

सम्यग्दर्शन होते शुद्धता प्रगट होती है और धर्म प्रगट होता है। धर्मीको रागमें एकत्वबुद्धि न होते हुए भी देवपूजा, गुरुभक्ति, शास्त्रस्वाध्याय आदि सम्बन्धी शुभराग उसे होता है; वह उस रागका कर्त्ता है—ऐसा भी व्यवहारमें कहा जाता है, और उसे व्यवहारधर्म कहा जाता है; निश्चयधर्म तो अन्तरंगमें भूतार्थस्वभावके आश्रयसे शुद्धि प्रगट हुई वही है। अरे, वीतरागमार्गकी अगम्य लीला रागके द्वारा ज्ञानमें नहीं आती, क्या रागमें स्थित रहकर तुझे वीतरागमार्गकी साधना करना है? राग द्वारा वीतरागमार्गका साधन कभी नहीं हो सकता। राग द्वारा धर्म माने ऐसे जीवकी तो यहाँ चर्चा

नहीं है। यहाँ तो जिसने भूतार्थस्वभावकी दृष्टिसे सम्यग्दर्शन प्रगट किया है उसे आगे बढ़ते मुनिधर्म या श्रावकधर्मका पालन किस प्रकार होता है उसकी चर्चा है।

सम्यग्दर्शन हुआ उसी समय स्वसंवेदनमें अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद तो आया है, तत्पश्चात् मुनिपनेमें तो उस अतीन्द्रिय आनन्दका प्रचुर स्वसंवेदन होता है। अहा! मुनियोंको तो शुद्धात्माके स्वसंवेदनमें आनन्दकी प्रचुरता है। समयसारकी पाँचवीं गाथामें अपने निजवैभवका वर्णन करते श्री आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि "अनवरत झरते हुए सुन्दर आनन्दकी मुद्रावाला जो तीव्र संवेदन उस रूप स्वसंवेदनसे हमारा निजवैभव प्रगट हुआ है। स्वयंको निःशंक अनुभवमें आता है कि ऐसा आत्मवैभव प्रगट हुआ है। देखो, यह मुनिदशा! मुनिपना यह तो संवरतत्त्वकी उत्कृष्टता है। जिसे ऐसी मुनिदशाकी पहचान नहीं उसे संवरतत्त्वकी पहचान नहीं; दिगम्बरपना हुआ या पंचमहाव्रत-का शुभराग हुआ-उसे ही मुनिपना मान लेना वह कोई सच्चा नहीं है; और वस्त्रसहित दशामें मुनिपना माने उसे तो गृहीत मिथ्यात्व भी छूटा नहीं; मुनिदशाके योग्य परम संवरको भूमिकामें तीव्र रागके किस प्रकारके निमित्त छूट जाते हैं उसकी भी उसे खबर नहीं; अर्थात् उस भूमिकाकी शुद्धताको भी उसने नहीं जानी है। वस्त्ररहित हुआ हो, पंचमहाव्रत दोषरहित पालता हो, परन्तु जो अन्तरंगमें तीन कषायके अभावरूप शुद्धोपयोग नहीं तो उसे भी मुनिपना नहीं है। मुनिमार्ग तो अलौकिक है। महाविदेहक्षेत्रमें वर्तमानमें सीमंधर परमात्मा साक्षात् तीर्थंकररूपमें विराज रहे हैं, वे ऐसा ही मार्ग प्रकाशित कर रहे हैं। ऐसे अनन्त तीर्थंकर हुए, लाखों सर्वज्ञ भगवान वर्तमानमें उस क्षेत्रमें विचर रहे हैं और भविष्यमें अनन्त होंगे, उन्होंने वाणीमें मुनिपनेका एक ही मार्ग बतलाया है। यहाँ कहते हैं कि हे जीव! ऐसा मुनिपना अंगीकार करने योग्य है; जो उसे अंगीकार न कर सके तो उसकी श्रद्धा करके श्रावकधर्मको पालना।

श्रावकको क्या करना चाहिए?

श्रावक प्रथम तो हमेशा देव पूजा करे। देव अर्थात् सर्वज्ञदेव, उनका स्वरूप पहचानकर उनके प्रति बहुमानपूर्वक रोज रोज दर्शन-पूजन करे। पहले ही सर्वज्ञकी पहचानकी बात कही थी। स्वयंने सर्वज्ञको पहचान लिया है और स्वयं सर्वज्ञ होना चाहता है वहाँ निमित्तरूपमें सर्वज्ञताको प्राप्त अरहंत भगवानके पूजन-बहुमानका उत्साह धर्मीको आता है। जिनमंदिर बनवाना, उसमें जिनप्रतिमा स्थापन करवाना, उनकी पंच-कल्याणक पूजा-अभिषेक आदि उत्सव करना, ऐसे कार्योंका उल्लास श्रावकको आता है—ऐसी उसकी भूमिका है, इसलिये उसे श्रावकका कर्तव्य कहा है। जो उसका निषेध

करे तो मिथ्यात्व है। और मात्र इतने शुभरागको ही धर्म समझे तो उसको भी सच्चा श्रावकपना नहीं होता—ऐसा जानो। सच्चे श्रावकको तो प्रत्येक क्षण पूर्ण शुद्धात्माका श्रद्धारूप सम्यक्त्व वर्तता है, और उसके आधारसे जितनी शुद्धता प्रगट हुई उसे ही धर्म जानता है। ऐसी दृष्टिपूर्वक वह देवपूजा आदि कार्योंमें प्रवर्तता है। समन्तभद्रस्वामी, मानतुंगस्वामी आदि महान मुनियोंने भी सर्वज्ञदेवकी नम्रतापूर्वक महान स्तुति की है; एक भवावतारी इन्द्र भी रोम रोम उल्लसित हो जाये ऐसी अद्भुत भक्ति करता है। हे सर्वज्ञ परमात्मा! इस पंचमकालमें हमें आपके जैसी परमात्मदशाका तो आत्मामें विरह है, और इस भरतक्षेत्रमें आपके साक्षात् दर्शनका भी विरह है। नाथ, आपके दर्शन बिना कैसे रह सकूं"—इस प्रकार भगवानके विरहमें उनकी प्रतिमाको साक्षात् भगवानके समान समझकर श्रावक हमेशा दर्शन-पूजन करे।—"जिन प्रतिमा जिन सारखी" क्योंकि धर्मीको सर्वज्ञका स्वरूप अपने ज्ञानमें भास गया है, इसलिये जिनबिम्बको देखते ही उसे उसका स्मरण हो जाता है। नियमसार टीकामें श्री पद्मप्रभमलधारि मुनिराज कहते हैं कि जिसे भवभयरहित ऐसे भगवानके प्रति भक्ति नहीं वह जीव भवसमुद्रके बीच मगरके मुँहमें पड़ा हुआ है, जिस प्रकार संसारके रागी प्राणीको युवा स्त्रीका विरह खटकता है और उसके समाचार मिलते प्रसन्न होता है, उसीप्रकार धर्मके प्रेमी जीवको सर्वज्ञ परमात्माका विरह खटकता है, और उनकी प्रतिमाका दर्शन करते या संतों द्वारा उनका सन्देश सुनते (शास्त्रका श्रवण करते) उसे परमात्माके प्रति भक्तिका उल्लास आता है। "अहो मेरे नाथ! तनसे-मनसे-धनसे-सर्वस्वरूपसे आपके लिये क्या-क्या करूँ!" पद्मनन्दीस्वामीने श्रावकके छह कर्तव्य बताये हैं, "उपासक संस्कार"में कहते हैं कि जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवानको भक्तिसे नहीं देखता तथा उनकी पूजा-स्तुति नहीं करता उसका जीवन निष्फल है और उसके गृहस्थाश्रमको धिक्कार है! मुनि इससे ज्यादा क्या कहे? इसलिये भव्य जीवोंको प्रातः उठकर सर्व प्रथम देव-गुरुके दर्शन तथा भक्तिसे वन्दन और शास्त्र-श्रवण कर्तव्य है,—अन्य कार्य पीछे करना चाहिये। (गाथा १५-१६-१७)

प्रभो! आपको पहचाने बिना मेरा अनन्तकाल निष्फल गया, परन्तु अब मैंने आपको पहचान लिया है, मैंने आपके प्रसादसे आपके जैसा मेरा आत्मा पहचाना है, आपकी कृपासे मुझे मोक्षमार्ग मिला और मेरा जन्म-मरणका अन्त आ गया।—ऐसा धर्मी जीवको देव-गुरुके प्रति भक्तिका प्रमोद आता है। श्रावकको सम्यग्दर्शनके साथ ऐसे भाव होते हैं। इसमें जितना राग है उतना पुण्य है, रागबिना जितनी शुद्धि है उतना धर्म है।

श्रावक जिनपूजाकी तरह हमेशा गुरुकी उपासना तथा हमेशा शास्त्रका स्वाध्याय

करे। समस्त तत्त्वोंका निर्दोष स्वरूप जिससे दिखे ऐसा ज्ञाननेत्र गुरुओंके प्रसादसे ही प्राप्त होता है। जो जीव निर्ग्रन्थ गुरुओंको नहीं मानता, उनकी पहचान और उपासना नहीं करता, उसको तो सूर्य उगे हुए भी अन्धकार है। इस प्रकार वीतरागी गुरुओंके द्वारा प्रकाशित सत्‌शास्त्रोंका जो अभ्यास नहीं करता उसको नेत्र होते हुए भी विद्वान लोग अन्धा कहते हैं। विकथा पढ़ा करे और शास्त्रस्वाध्याय न करे—उसके नेत्र किस कामके? श्रीगुरुके पास रहकर जो शास्त्र नहीं सुनता और हृदयमें धारण नहीं करता उस मनुष्यके कान तथा मन नहीं हैं-ऐसा कहा है। ( उपासक-संस्कार गाथा १८ से २१ )

इस प्रकार देवपूजा, गुरुसेवा और शास्त्रस्वाध्याय ये श्रावकके हमेशाके कर्त्तव्य हैं। जिस घरमें देव-गुरु-शास्त्रकी उपासना नहीं होती वह तो घर नहीं परन्तु जेलखाना है। जिसप्रकार भक्तिवान पुत्रको अपनी माताके प्रति कैसा आदरभाव और भक्ति आती है। अहो, मेरी माता! तेरे उपकार अपार हैं! तेरे लिये क्या-क्या करूँ!! उसीप्रकार धर्मात्मा श्रावकको तथा जिज्ञासु जीवको भगवानके प्रति, गुरुके प्रति और जिनवाणी माताके प्रति हृदयसे प्रशस्त भक्तिका उद्रेक आता है; अहो मेरे स्वामी! आपके लिये मैं क्या-क्या करूँ? किस प्रकार आपकी सेवा करूँ? ऐसा भाव भक्तको आये विना नहीं रहता, तो भी उसकी जितनी सीमा है उतनी वह जानता है। केवल वह उस रागमें धर्म मानकर रुक नहीं जाता। धर्म तो, अन्तरके भूतार्थस्वभावके अवलम्बनसे है—उसने स्वभावको प्रतीतिमें लिया है। ऐसे सम्यग्दर्शन सहित मुनिधर्म न पाल सके तो श्रावकधर्मका पालन करे उसका यह वर्णन है।

श्रावकधर्ममें छह कर्त्तव्योंको मुख्य बताया है। एक जिनपूजा, दूसरा गुरुपूजा और तीसरा शास्त्रस्वाध्याय—इन तीनकी चर्चा की। उसके बाद अपनी भूमिकाके योग्य संयम, तप और दान श्रावक हमेशा करे। विषयोंसे सुखबुद्धि तो पहले ही छूट गई है, तत्पश्चात् विषय-कषायोंमेंसे परिणति मोड़कर अन्तरमें एकाग्रताका प्रतिदिन अभ्यास करे। मुनिराजको तथा साधर्मी धर्मात्माको आहारदान, शास्त्रदान इत्यादि करनेकी भावना भी प्रतिदिन करे। भरत चक्रवर्ती जैसे भी श्रावक अवस्थामें भोजनके समय प्रतिदिन मुनिवरोंको याद करते हैं कि कोई मुनिराज पधारें तो उन्हें आहार-दान देनेके पश्चात् मैं भोजन करूँ। मुनिराजके पधारने पर अत्यन्त भक्तिपूर्वक आहार-दान करते हैं। दान विना गृहस्थ-अवस्थाको निष्फल कहा है। जो पुरुष मुनि इत्यादिको भक्तिपूर्वक चतुर्विधदान ( आहार-शास्त्र-औषध और अभय ये चार प्रकारके दान ) नहीं देता उसका घर तो वास्तवमें घर नहीं परन्तु उसको बाँधनेके लिये बन्धपाश है। ऐसा दान सम्बन्धी बहुत उपदेश पद्मनंदी-

स्वामीने दिया है। (देखिये, उपासक-संस्कार अधिकार गाथा ३१ से ३६) श्रावककी भूमिकामें चैतन्यकी दृष्टि सहित इस प्रकार छह कार्योंके भाव सहज होते हैं।

"श्रावकधर्म-प्रकाशका मतलब है कि गृहस्थाश्रममें सम्यक्तपूर्वक धर्मका प्रकाश होकर वृद्धि होवे उसका यह वर्णन है। प्रथम तो सम्यग्दर्शनकी दुर्लभता वतलाई। ऐसे तो सम्यग्दर्शन सदाकाल दुर्लभ है, उसमें भी आजकल तो उसकी सच्ची वात सुननेको मिलना भी दुर्लभ हो गई है। और सुननेको मिले तो भी वहुतसे जीवोंको उसकी खबर नहीं पड़ती। यहाँ कहते हैं कि ऐसा दुर्लभ सम्यग्दर्शन पाकर, उत्तम पुरुष मुनिधर्मको अंगीकार करे, वैराग्यरूपमें रमणता बढ़ावे।

प्रश्नः—शास्त्रमें तो कहा है कि पहले मुनिदशाका उपदेश दो। आप तो पहले सम्यग्दर्शनका उपदेश देकर पीछे मुनिदशाकी वात करते हो? सम्यग्दर्शन बिना मुनिपना होता ही नहीं—ऐसी वात करते हो?

उत्तरः—यह बराबर है; शास्त्रमें पहले मुनिपनाका उपदेश देनेकी जो वात कही है, वह तो श्रावकपना और मुनिपना—इन दोकी अपेक्षासे पहले मुनिपनेकी वात कही है, परन्तु कोई सम्यग्दर्शनके पहले मुनिपना ले लेनेकी वात नहीं की। सम्यग्दर्शन विना तो मुनिधर्म अथवा श्रावकधर्म होता ही नहीं। इसलिये पहले सम्यग्दर्शनकी मुख्य वात करके मुनिधर्म और श्रावकधर्मकी वात की है। (शास्त्रमें आता है कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवोंमें देशसंयमकी अपेक्षा सीधा मुनिपना लेने वाले जीव वहुत होते हैं।)

भाई, ऐसा मनुष्यपना प्राप्त करके सम्यक्त्वसहित जो मुनिदशा हो तो अवश्य करना, वह तो उत्तम है, और जो इतना तेरी शक्तिकी हीनतासे नहीं हो सके, तो श्रावक-धर्मके पालन द्वारा मनुष्यभवकी सार्थकता करना। ऐसा मनुष्यभव वार वार मिलना दुर्लभ है। यह शरीर क्षणमें नष्ट होकर उसके रजकण हवामें उड़ जायेंगे।—

रजकण तारां रखडशे जेम रखडती रेत,
पछी नरभव पामीश क्यां? चेत चेत नर चेत!

जिस प्रकार एक वृक्ष विल्कुल हरा हो और जलकर भस्म हो जाय और उसकी राख हवामें चारों ओर उड़ जाय; पीछे फिरसे वही परमाणु उसी वृक्षरूप हो जायें अर्थात् एकत्रित होकर फिरसे उसी स्थान पर वैसे ही वृक्षरूप परिणमें—यह कितना दुर्लभ है? मनुष्यपना तो उसकी अपेक्षा और भी दुर्लभ है।—इसलिये तू इसे धर्म सेवनके बिना विषय-कषायोंमें ही नष्ट न कर।

जिनदर्शन आदि छह कार्य श्रावकके प्रतिदिन होते हैं। यहाँ सम्यग्दर्शन सहित श्रावककी मुख्य बात है; सम्यग्दर्शनके पूर्व जिज्ञासु भूमिकामें भी गृहस्थों द्वारा जिनदर्शन-पूजा-स्वाध्याय आदि कार्य होते हैं। जो सच्चे देव-गुरु-शास्त्रको नहीं पहिचाने, उनकी उपासना नहीं करे, वह तो व्यवहारसे भी श्रावक नहीं कहलाता।

प्रश्नः—देव-गुरु-शास्त्र तरफका भाव तो पराश्रितभाव है न?

उत्तरः—भेदज्ञानीको तो उस समय स्वयंके धर्मप्रेमका पोषण होता है। संसार संबंधी स्त्री-पुत्र-शरीर-व्यापार आदि तरफके भावमें तो पापका पोषण है; उसकी दिशा बदलकर-धर्मके निमित्तों तरफके भाव आवें उसमें तो रागकी मंदता होती है तथा वहाँ सच्ची पहिचानका—स्वाश्रयका अवकाश है। भाई, पराश्रयभाव तो पाप और पुण्य दोनों हैं, परन्तु धर्म जिज्ञासुको पाप तरफका लगाव छूटकर धर्मके निमित्तरूप देव-गुरु-धर्मकी तरफ लगाव होता है। इसका विवेक नहीं करे और स्वच्छंद पापमें प्रवर्ते या कुदेवादिको माने इसे तो धर्मी होनेकी पात्रता भी नहीं।

सर्वज्ञ कैसे होते हैं, उनके साधक गुरु कैसे होते हैं, उनकी वाणीरूप शास्त्र कैसे होते हैं, शास्त्रोंमें आत्माका स्वभाव कैसा बतलाया है,—उनके अभ्यासका रस होना चाहिये। सत्शास्त्रोंका स्वाध्याय ज्ञानकी निर्मलताका कारण है। लौकिक उपन्यास और अखबार पढ़े उसमें तो पापभाव है। जिसे धर्मका प्रेम हो उसे दिन-प्रतिदिन नये-नये वीतरागी श्रुतके स्वाध्यायका उत्साह होता है। यह निर्णयमें तो है कि ज्ञान मेरे स्वभावमेंसे ही आता है, परन्तु जबतक इस स्वभावमें एकाग्र नहीं रहा जाता तबतक वह शास्त्र-स्वाध्याय द्वारा बारम्बार उसका घोलन करता है। सर्वार्थसिद्धिका देव तेतीस सागरोपम तक तत्त्वचर्चा करता है। इन सब देवोंको आत्माका भान है, एक भवमें मोक्ष जाने वाले हैं, अन्य कोई काम (व्यापार-धन्धा या रसोई-पानीका काम) उनका नहीं है। तेतीस सागरोपम अर्थात् असंख्यात वर्षों तक चर्चा करते-करते भी जिसका रहस्य पूर्ण नहीं होता ऐसा गम्भीर श्रुतज्ञान है, धर्मीको उसके अभ्यासका बड़ा प्रेम होता है; ज्ञानका चस्का होता है। चौबीसों घंटे केवल विकथामें या व्यवहार-धन्धेके परिणाममें लगा रहे और ज्ञानके अभ्यासमें जरा भी रस न ले—वह तो पापमें पड़ा हुआ है। धर्मी श्रावकको तो ज्ञानका कितना रस होता है!

प्रश्नः—परन्तु शास्त्र-अभ्यासमें हमारी बुद्धि न चले तो?

उत्तरः—यह बहाना खोटा है। कदाचित् न्याय, व्याकरण या गणित जैसे विषयमें बुद्धि न चले, परन्तु जो आत्माको समझनेका प्रेम हो तो शास्त्रमें आत्माका स्वरूप क्या

कहा है? उससे धर्म किस प्रकार हो-यह सब समझमें कैसे न आवे? न समझे तो गुरु द्वारा या साधर्मीको पूछकर समझना चाहिये; परन्तु पहलेसे ही "समझमें नहीं आता" —ऐसा कहकर शास्त्रका अभ्यास ही छोड़ दे उसे तो ज्ञानका प्रेम नहीं है।

सर्वज्ञदेवकी पहचान पूर्वक सेवा-पूजा, सन्त-गुरु-धर्मात्माकी सेवा, साधर्मीका आदर—यह श्रावकको जरूर होता है। गुरुसेवा अर्थात् धर्ममें जो बड़े हैं, धर्मसे जो उच्च हैं और उपकारी हैं उनके प्रति विनय-बहुमानका भाव होता है। वह शास्त्रका श्रवण भी विनयपूर्वक करता है। प्रमादपूर्वक या हाथमें पंखा लेकर हवा खाते-खाते शास्त्र सुने तो अविनय है। शास्त्र सुननेके प्रसंगमें विनयसे ध्यानपूर्वक उसका ही लक्ष रखना चाहिये। इसके पश्चात् भूमिकाके योग्य राग घटाकर संयम, तप और दान भी श्रावक हमेशा करे। इसके पश्चात् श्रावकके व्रत कौनसे होते हैं वे आगेकी गाथामें कहेंगे।

इन शुभ कार्योंमें कोई रागका आदर करनेका नहीं समझाया, परन्तु धर्मात्माको शुद्धदृष्टिपूर्वक किस भूमिकामें रागकी कितनी मन्दता होती है, यह बतलाया है। भगवान सर्वज्ञ परमात्माके अनुरागी, वनमें बसने वाले वीतरागी सन्त नौसौ वर्ष पहले हुए पद्मनन्दी मुनिराजने इस श्रावकधर्मका प्रकाश किया है।

सर्वज्ञदेवकी पूजा, धर्मात्मा गुरुओंकी सेवा, शास्त्र-स्वाध्याय करना श्रावकका कर्तव्य है—ऐसा व्यवहारसे उपदेश है। शुद्धोपयोग करना यह तो प्रथम बात है। परन्तु वह न हो सके तो शुभकी भूमिकामें श्रावकका कैसे कार्य होते हैं उसे बतानेके लिये यहाँ उसे कर्तव्य कहा है—ऐसा समझना। इसमें जितना शुभराग है वह तो पुण्यबन्धका कारण है, और सम्यग्दर्शन सहित जितनी शुद्धता है वह मोक्षका कारण है। सम्यग्दर्शन प्राप्त कर मोक्षमार्गमें जिसने गमन किया है—ऐसे श्रावकको मार्गमें किस प्रकारके भाव होते हैं आचार्यश्रीने उसे बतलाकर श्रावकधर्मको प्रकाशित किया है। ऐसा मनुष्य-अवतार और ऐसा उत्तम जैन-शासन पाकर हे जीव! उसे तू व्यर्थ न गँवा; प्रथम तो सर्वज्ञ—जिनदेवको पहचानकर सम्यग्दर्शन प्रगट कर, इसके पश्चात् मुनिदशाके महाव्रत धारण कर, जो महाव्रत न पाल सके तो श्रावकके धर्मोंका पालन कर और श्रावकके देशव्रत धारण कर। श्रावकके व्रत कौनसे होते हैं वे आगेकी गाथामें कहते हैं।



# [ ५ ]

# श्रावकके व्रतोंका वर्णन

सम्यग्दृष्टि–पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावकका राग कितना घट गया है और इसका विवेक कितना है। एकभवावतारी इन्द्र और सर्वार्थसिद्धिके देवोंसे भी ऊँची जिसकी पदवी है, इसके विवेककी और इसके मंदरागकी क्या बात! वह अन्दर शुद्धात्माको दृष्टिमें लेकर साधता है और उसके पर्यायमें राग बहुत घट गया है। मुनिकी अपेक्षा थोड़ी ही कम जिसकी दशा है।—ऐसी यह श्रावकदशा अलौकिक है।

यह देशव्रतोद्योतन अर्थात् श्रावकके व्रतोंका प्रकाशन चल रहा है। सबसे पहले सर्वज्ञदेव द्वारा कहे गये धर्मकी पहचान करनेको कहा गया है, पश्चात् सम्यग्दृष्टि अकेला ही मोक्षमार्गमें शोभाको प्राप्त होता है,—ऐसा कहकर सम्यक्त्वकी प्रेरणा की है। तीसरी गाथामें सम्यग्दर्शनको मोक्षवृक्षका बीज कहकर उसकी दुर्लभता बताई तथा यत्नपूर्वक सम्यक्त्व प्राप्त करके उसकी रक्षा करनेको कहा गया है। सम्यक्त्व प्राप्त करनेके पश्चात् मुनिधर्मका अथवा श्रावकधर्मका पालन करनेका उपदेश दिया है, उसमें श्रावकके हमेशाके छह कर्तव्योंको भी बतलाया। अब श्रावकके व्रतोंका वर्णन करते हैं—

दृग्मूलव्रतमष्टधा तदनु च स्यात्पंचधाणुव्रत।
शीलाख्यं च गुणव्रत त्रयमतः शिक्षाश्चतस्रः पराः॥
रात्रौ भोजनवर्जनं शुचिपटात् पेयं पयः शक्तितो।
मौनादिव्रतमप्यनुष्ठितमिदं पुण्याय भव्यात्मनाम्॥ ५॥

श्रावक सम्यग्दर्शनपूर्वक आठ मूलगुणोंका पालन करे तथा पांच अणुव्रत, तीन

गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत-ये सात शीलव्रत,—इस प्रकार कुछ बारह व्रत, रात्रि-भोजन परित्याग, पवित्र वस्त्रसे छने जलका पीना तथा शक्ति अनुसार मौनादि व्रतका पालन करना,—ये सब आचरण भव्य जीवोंको पुण्यके कारण हैं।

देखो! इसमें दो बात बताई। एक तो दृग् अर्थात् सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन होता है—यह बात बताई, और दूसरी ये शुभ-आचरण पुण्यका कारण हैं अर्थात् आस्रवका कारण है, मोक्षका कारण नहीं। मोक्षका कारण तो सम्यग्दर्शन पूर्वक स्वद्रव्यके आलंबन द्वारा जितनी वीतरागता हुई वह है।

जिसको आत्मभान हुआ है, कषायोंसे भिन्न आत्मभाव अनुभवमें आया है, पूर्ण वीतरागताकी भावना है परन्तु अभी पूर्ण वीतरागता नहीं हुई है; वहाँ श्रावक अवस्थामें उसे किस प्रकारका आचरण होता है वह यहाँ बताया गया है।

जिस प्रकार गतिमानको धर्मास्तिकाय निमित्त है, उसी प्रकार स्वाश्रित शुद्धात्माके बलसे जिसने मोक्षमार्गमें गमन किया है, उस जीवको बीचकी भूमिकामें यह व्रतादि शुभ-आचरण निमित्तरूपसे होता है। सम्यग्दर्शन होने पर चौथे गुणस्थानसे प्रारंभ हुई है—निश्चय मोक्षमार्गके जघन्य अंशकी शुरुआत हो गई है, पश्चात् पाँचवें गुणस्थानमें शुद्धता बढ़ गई है और राग बहुत कम हो गया है; उस भूमिकामें शुभरागके आचरणकी मर्यादा कितनी है और उसमें किस प्रकारके व्रत होते हैं यह बताया गया है। यह शुभरागरूप आचरण श्रावकको पुण्यबन्धका कारण है अर्थात् धर्मी जीव अभिप्रायमें इस रागको भी कर्तव्य नहीं मानते, रागके एक अंशको भी धर्मी जीव मोक्षमार्ग नहीं मानते, अतः उसे कर्त्तव्य नहीं मानते परन्तु अशुभसे बचनेके लिये शुभको व्यवहारसे कर्त्तव्य कहा जाता है; क्योंकि उस भूमिकामें उस प्रकारका भाव होता है।

जहाँ शुद्धताकी शुरुआत हुई है परन्तु पूर्णता नहीं हुई वहाँ बीचमें साधकको महाव्रत या देशव्रतके परिणाम होते हैं। परन्तु जिसे अभी शुद्धताका अंश भी प्रगट नहीं हुआ है, जिसे परमें कर्त्तव्यबुद्धि है, जो रागको मोक्षमार्ग स्वीकारता है, उसे तो अभी मिथ्यात्वका शल्य है, ऐसे शल्यवाले जीवको व्रत होते ही नहीं क्योंकि व्रती तो निःशल्य होता है—'निःशल्यो व्रती' यह भगवान उमास्वामीका सूत्र है। जिसे मिथ्यात्वका शल्य न हो, जिसे निदानका शल्य न हो उसे ही पाँचवाँ गुणस्थान और व्रतीपना होता है।

पहली बात दृग् अर्थात् सम्यग्दर्शनकी है। सर्वज्ञदेवकी प्रतीतिपूर्वक सम्यग्दर्शन होना यह पहली शर्त है; पीछे आगेकी बात है। श्रावकको सम्यग्दर्शनपूर्वक अष्ट मूल-गुणोंका पालन नियमसे होता है। बड़का फल, पीपर, कठूमर, ऊमर तथा पाकर इन

पाँच क्षीरवृक्षोंको उदम्बर कहते हैं। ये त्रस-हिंसाके स्थान हैं इनका त्याग तथा तीन "मकार" अर्थात् मद्य, मांस, मधु इन तीनोंका नियमसे त्याग ये अष्टमूलगुण हैं; अथवा पाँच अणुव्रतोंका पालन और मद्य, मांस, मधुका निरतिचार त्याग ये श्रावकके आठ मूल गुण हैं; ये तो प्रत्येक श्रावकको नियमसे ही होते हैं, (चाहे) मनुष्य हो, या तिर्यंच हो, या स्त्री हो। अढाईद्वीपके बाहर तिर्यंचोंमें असंख्यात सम्यग्दृष्टि हैं, उन्हींमें श्रावक-पंचमगुणस्थानी भी असंख्यात हैं। सम्यग्दृष्टिको जैसा शुद्धस्वभाव है वैसा प्रतीतिमें आ गया है और पर्यायमें उसका अल्प शुद्ध परिणमन हुआ है। शुद्धस्वभावकी श्रद्धाके परिणमनपूर्वक शुद्धताका परिणमन होता है; और ऐसी शुद्धिके साथ श्रावकको आठ मूलगुण, त्रसहिंसाके अभावरूप पाँच अणुव्रत, रात्रि-भोजन त्याग इत्यादि होते हैं। उस सम्बन्धी शुभभाव है वे पुण्यका उपार्जन करने वाले हैं,—"पुण्याय भव्यात्मनाम्"। कोई उसको मोक्षका कारण मान ले तो वह भूल है। श्री उमास्वामीने मोक्षशास्त्रमें भी शुभ आस्रवके प्रकरणमें व्रतोंका वर्णन किया है; उन्होंने कोई संवररूपसे वर्णन नहीं किया है।

यहाँ श्रावकको मद्य, मांस इत्यादिका त्याग होनेका कहा, परन्तु यह ध्यान रखना कि पहली भूमिकामें साधारण जिज्ञासुको भी मद्य, मांस, मधु, रात्रि-भोजन आदि तीन पापके स्थानोंका तो त्याग होता है, और श्रावकको तो प्रतिज्ञापूर्वक नियमसे उसका त्याग होता है।

रात्रि-भोजनमें त्रसहिंसा होती है, इसलिये श्रावकको उसका त्याग होता ही है। इसी प्रकार अनछने पानीमें भी त्रस जीव होते हैं। शुद्ध और मोटे कपड़ेसे गालनेके पश्चात् ही श्रावक पानी पीता है। अस्वच्छ कपड़ेसे पानी छाने तो उस कपड़ेके मैलमें ही जीव होते हैं, इसलिये कहते हैं कि शुद्ध वस्त्रसे छना हुआ पानीके काममें लेवे। रात्रिको तो पानी पिये नहीं और दिनमें छानकर पिये। रात्रिको त्रस जीवोंका संचार बहुत होता है; इसलिये रात्रिके खान-पानमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती है। जिसमें त्रसहिंसा होती है ऐसे कोई कार्यके परिणाम व्रती श्रावकको नहीं हो सकते। भक्ष्य-अभक्ष्यके विवेक बिना अथवा दिन-रातके बिना, चाहे जैसे वर्तता होवे और कहे कि हम श्रावक हैं,—परन्तु भाई! श्रावकको तो कितना राग घट गया है? उसको विवेक कितना होता है? एक-भवावतारी इन्द्र और सर्वार्थसिद्धिके देवोंकी अपेक्षा ऊँची जिसकी पदवी, उसके विवेककी और उसके मन्द रागकी क्या बात? वह अन्दर शुद्धात्माको दृष्टिमें लेकर साध रहा है, और पर्यायमें राग बहुत ही घट गया है। मुनि की अपेक्षा थोड़ी ही कम इसकी दशा है।—यह श्रावकदशा अलौकिक है। वहाँ त्रसहिंसाके भाव कैसे? और अन्दर त्रसहिंसाके

भाव नहीं होते अतः बाहरमें भी त्रसहिंसाका आचरण सहज ही नहीं होता,—ऐसी संधि है। अन्दर त्रसहिंसाके परिणाम न हों और बाहर हिंसाकी चाहे जैसी प्रवृत्ति बना करे ऐसा नहीं बनता। कोई कहे कि सभी अभक्ष्य खाना सही परन्तु भाव नहीं करना,—तो वह स्वच्छन्दी है, अपने परिणामका उसको विवेक नहीं है। भाई, जहाँ अन्दरसे पापके भाव छूट गये वहाँ, "बाहरमें पापकी क्रिया भले ही होवे" ऐसी उल्टी वृत्ति उठे ही कैसे? मुखमें कन्दमूल भक्षण करता हो और कहे कि हमें राग नहीं है,—यह तो स्वच्छन्दता है। भाई यह तो वीतरागमार्ग है। तू स्वच्छन्दपूर्वक रागका सेवन करे और तुझे वीतराग-मार्ग हाथमें आ जावे ऐसा नहीं है। स्वच्छन्दतापूर्वक रागको सेवे और अपनेको मोक्षमार्गी मान ले उसकी तो दृष्टि भी चोखी नहीं; सम्यग्दर्शन ही नहीं, वहाँ श्रावकपनेकी अथवा मोक्षमार्गकी बात कैसी? बीड़ी-तम्बाकूका व्यसन अथवा बासी अथाणा-मुरब्बा इन सबमें त्रसहिंसा है, श्रावकको उसका सेवन नहीं होता। इस प्रकार त्रसहिंसाके जितने स्थान हों, जहाँ जहाँ त्रसहिंसाकी सम्भावना हो वैसे आचरण श्रावकको नहीं होते ऐसा समझ लेना।

मद्य, मांस और मधु अर्थात् शहद, तथा पांच प्रकारके उदम्बर फल, इनका त्याग तो श्रावकको प्रथम ही होता है।—ऐसा पुरुषार्थसिद्धि-उपायमें अमृतचन्द्राचार्यदेवने कहा है। जिन्हें इनका त्याग नहीं उन्हें व्यवहारसे भी श्रावकपना नहीं होता और वे धर्मश्रवणके भी योग्य नहीं। समन्तभद्रस्वामीने श्री रत्नकरंडश्रावकाचारमें त्रसहिंसादिके त्यागरूप पांच अणुव्रतका पालन तथा मद्य-मांस-मधुका त्याग—इस प्रकार आठ मूलगुण कहे हैं।

मुख्यतः तो दोनोंमें त्रसहिंसा सम्बन्धी तीव्र पापपरिणामोंके त्यागकी बात है। जिस गृहस्थको सम्यग्दर्शनपूर्वक पांच पाप और तीन 'म'कारके त्यागकी दृढता हुई है, उसने समस्त गुणरूपी महलकी नींव डाली। अनादिसे संसार-भ्रमणका कारण जो मिथ्यात्व और तीव्र पाप उसका अभाव होते ही जीव अनेक गुण ग्रहणका पात्र हुआ है। इसलिये इन आठ त्यागोंको अष्ट मूलगुण कहा है। बहुतसे लोग दवा आदिमें मधु सेवन करते हैं, परन्तु मांसकी तरह ही मधुको भी अभक्ष्य गिना है। रात्रि-भोजनमें भी त्रसहिंसाका बड़ा दोष है। श्रावकको ऐसे परिणाम नहीं होते।

भाई, अनन्तकालमें तुझे ऐसा मनुष्य-अवतार मिला तो उसमें आत्माका हित किस प्रकार हो-उसका विचार कर। एक अंगुल जितने क्षेत्रमें असंख्यात औदारिकशरीर, एक शरीरमें अनन्त जीव; वे कितने? अभीतक जितने सिद्ध हुए उनसे भी अनन्तगुणे निगोद जीव एक-एक शरीरमें हैं; उस निगोदमेंसे निकलकर त्रसपना प्राप्त करना और उसमें यह मनुष्यपना और जैनधर्मका ऐसा अवसर मिलना तो बहुत ही दुर्लभ है। भाई!

तुझे उसकी प्राप्ति हुई है तो आत्माका जिज्ञासु होकर मुनिदशा या श्रावकदशा प्रगट कर। यह अवसर धर्मके सेवन विना निष्फल न गँवा। सर्वज्ञ प्रभु द्वारा कहे हुये आत्माके हितका सच्चा रास्ता अनन्तकालमें तूने नहीं देखा-सेवन नहीं किया; वह मार्ग यहां सर्वज्ञ परमात्माके अनुगामी संत तुझे बता रहे हैं। सती राजमती; द्रौपदी, सीताजी, ब्राह्मी-सुन्दरी, चंदना, अंजना तथा रामचंद्रजी, भरत, सुदर्शन, वारिषेणकुमार आदि पूर्वमें राजपाटमें थे तब भी वे संसारसे एकदम उदासीन थे, वे भी आत्माके भान सहित धर्मका सेवन करते थे। अर्थात् गृहस्थ-अवस्थामें हो सके ऐसी (श्रावकधर्मकी) यह बात है। पश्चात् छठवें-सातवें गुणस्थानरूप मुनिदशा तो विशेष ऊंची दशा है; वह गृहस्थ-अवस्थामें रहकर नहीं हो सकती। परन्तु गृहस्थ-अवस्थामें रहकर जो सम्यग्दर्शन पूर्वक शक्ति अनुसार वीतरागधर्मका सेवन करते हैं वे भी अल्पकालमें मुनिदशा और केवलज्ञान प्रगट कर मोक्षको प्राप्त होंगे।



शुद्धस्वरूपका जहाँ सम्यक्‌निर्णय हुआ वहाँ मोक्षका दरवाजा खुल गया। गृहवासमें रहनेवाला सम्यग्दृष्टिको भी आत्मदर्शन द्वारा मोक्षका दरवाजा खुल गया है। जो शुद्ध स्वतत्त्वका उपादेयपना और समस्त परभावोंका अनुपादेयपना—ऐसे भेदज्ञानके बलसे मोक्षमार्गको साध रहा है, ऐसे निर्मोही गृहस्थको समंतभद्रस्वामीने प्रशंसनीय और "मोक्षमार्गस्थ" कहा है।



[ ६ ]

# श्रावकके बारह व्रत

अपने आंगनमें मुनिराजको देखते ही धर्मात्माको अत्यन्त आनन्द होता है। श्रावकके आठ प्रकारकी कषायके अभावसे सम्यक्त्व-पूर्वक जितनी शुद्धता प्रगट हुई है उतना मोक्षमार्ग है। ऐसा मोक्षमार्ग हो वहाँ त्रसहिंसाके परिणाम नहीं होते। भाई! आत्माका खजाना खोलनेके लिये यह अवसर मिला, उसमें विकथामें समय नष्ट करना कैसे शोभे? सम्यक्त्वसहित आंशिक वीतरागता पूर्वक श्रावकपना शोभता है।

पाँचवीं गाथामें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे जो बारह व्रत कहे वे कौन हैं? यह बतलाकर उनका पालन करनेको कहते हैं।—

हन्ति स्थावरदेहिनः स्वविषये सर्वान्त्रसान् रक्षति
ब्रूते सत्यमचौर्यवृत्तिमबलां शुद्धां निजां सेवते।
दिग्देशव्रत दण्डवर्जनमतः सामायिकं प्रौषधं
दानं भोगयुगप्रमाणमुररी कुर्याद् गृहीति व्रती॥ ६॥

देशव्रती श्रावकको प्रयोजनवश (आहार आदिमें) स्थावर जीवोंकी हिंसा होती है परन्तु समस्त त्रस जीवोंकी तो रक्षा करता है; सत्य बोलता है, अचौर्यव्रत पालता है, शुद्ध स्वस्त्रीके सेवनमें संतोष अर्थात् कि परस्त्री सेवनका त्याग है तथा पाँचवाँ व्रत परिग्रहकी मर्यादा भी श्रावकको होती है। अभी उसके मुनिदशा नहीं अर्थात् सर्व परिग्रहका भाव नहीं छूटा, परन्तु उसकी मर्यादा आ गई है। परिग्रहमें कहीं सुख नहीं है, ऐसा भान है और "कोई भी परद्रव्य मेरा नहीं है, मैं तो ज्ञानमात्र हूँ" ऐसी अन्तर्दृष्टिमें

तो सर्व परिग्रह छूटा ही हुआ है, परन्तु चारित्र अपेक्षासे अभी गृहस्थको सर्वपरिग्रह नहीं छूटा। मिथ्यात्वका परिग्रह छूट गया है और दूसरे परिग्रहकी मर्यादा हो गई है। इस प्रकार पाँच अणुव्रत गृही-श्रावकको होते हैं; तथा दिग्व्रत, देशव्रत और अर्थदंडका त्यागरूप व्रत ये तीन गुणव्रत होते हैं; और सामायिक, प्रोषधोपवास, दान अर्थात् अतिथिसंविभाग और भोगोपभोगपरिमाण ये चार शिक्षाव्रत होते हैं।—इस प्रकार श्रावकको बारह व्रत होते हैं। ये व्रत पुण्यके कारण हैं—यह बात पाँचवीं गाथामें कह आये हैं।

चार अनंतानुबंधी और चार अप्रत्याख्यान इन आठ कषायोंके अभावसे श्रावकको सम्यक्त्वपूर्वक जितनी शुद्धता प्रगट हुई है उतना मोक्षमार्ग है; ऐसा मोक्षमार्ग प्रगट हुआ हो वहाँ त्रसहिंसाके परिणाम नहीं होते। आत्मा पर जीवको मार सके या जिला सके ऐसी बाहरकी क्रियाके कर्तव्यकी यह बात नहीं है, परन्तु अन्दर ऐसे हिंसाके परिणाम ही उसे नहीं होते। प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्यायकी मर्यादा स्वयंकी वस्तुके प्रवर्तनमें ही है, परमें प्रवर्तन नहीं होता।—ऐसे वस्तुस्वरूपके भानपूर्वक अंतरंगमें कुछ स्थिरता हो तभी व्रत होता है; और उसे श्रावकपना कहा जाता है। ऐसे श्रावकको (द्वीन्द्रियसे पंचेन्द्रिय) त्रसहिंसाका सर्वथा त्याग हो; और स्थावर हिंसाकी भी मर्यादा हो।—ऐसा अहिंसाव्रत होता है।

इसी प्रकार सत्यका भाव हो और असत्यका त्याग हो, चोरीका त्याग हो; परस्त्रीका त्याग हो और स्वस्त्रीमें सन्तोष, और वह भी शुद्ध हो तभी, अर्थात् कि ऋतुमती-अशुद्ध हो तब उसका भी त्याग,—इस प्रकारका एकदेश ब्रह्मचर्य हो; तथा परिग्रहकी कुछ मर्यादा हो; इस प्रकार श्रावकको पाँच अणुव्रत होते हैं। पाँच अणुव्रत पश्चात् श्रावकको तीन गुणव्रत भी होते हैं:—

प्रथम दिग्व्रत अर्थात् दशों दिशामें निश्चित मर्यादा तक ही गमन करनेकी जीवन-पर्यन्त प्रतिज्ञा करना।

दूसरा देशव्रत अर्थात् दिग्व्रतमें जो मर्यादा की है उसमें भी निश्चित क्षेत्रके बाहर नहीं जानेका नियम करना।

तीसरा अनर्थदण्डपरित्यागव्रत अर्थात् बिना प्रयोजनके पापकार्य करनेका त्याग; उसके पाँच प्रकार—अपध्यान, पापका उपदेश, प्रमादचर्या, जिससे हिंसा हो ऐसे शास्त्र आदिका दान और दुःश्रुति—जिससे राग-द्वेषकी वृद्धि हो ऐसी दुष्ट कथाओंका श्रवण, वह न करे। इस प्रकार श्रावकके तीन गुणव्रत होते हैं।

और चार शिक्षाव्रत होते हैं। सामायिक—अर्थात् पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक प्रतिदिन परिणामको अंतरमें एकाग्र करनेका अभ्यास करे।

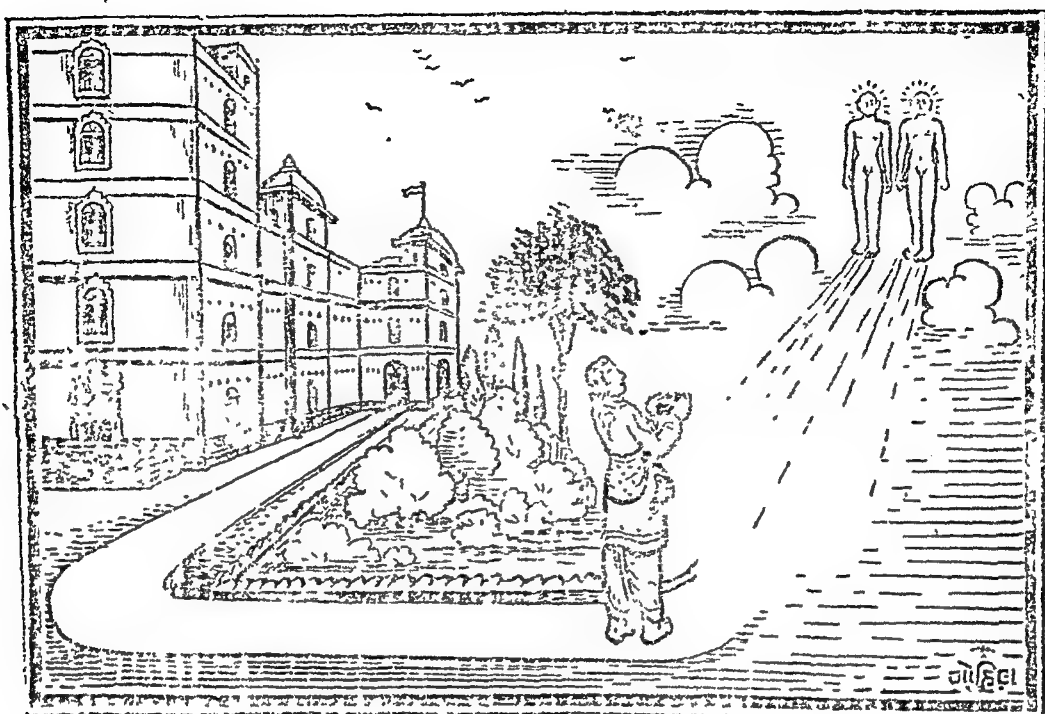
प्रौषधोपवास—अष्टमी, चौदसके दिनोंमें श्रावक उपवास करके परिणामको विशेष एकाग्र करनेका प्रयोग करे। सभी आरम्भ छोड़कर धर्मध्यानमें ही पूरा दिन व्यतीत करे।

दान—अपनी शक्ति अनुसार योग्य वस्तुका दान करे; आहारदान, शास्त्रदान, औषधदान, अभयदान—इस प्रकार चार प्रकारके दान श्रावक करे। उनका विशेष वर्णन आगे करेंगे। अतिथिके प्रति अर्थात् मुनि या धर्मात्मा श्रावकके प्रति बहुमानपूर्वक आहार दानादि करे, शास्त्र देवे, ज्ञानका प्रचार कैसे बढ़े—ऐसी भावना उसको होती है। इसे अतिथिसंविभाग-व्रत कहते हैं।

भोगोपभोगपरिमाण व्रत—अर्थात् खाने-पीने इत्यादिकी जो वस्तु एकवार उपयोगमें आती है उसे भोग-सामग्री कहते हैं, और वस्त्रादि जो सामग्री वारम्वार उपयोगमें आवे उसे उपभोग-सामग्री कहते हैं, उसका प्रमाण करे, मर्यादा करे। उसमें सुखवुद्धि तो पहलेसे ही छूट गई है, क्योंकि जिसमें सुख माने उसकी मर्यादा नहीं होती।

इस प्रकार पाँच अणुव्रत और चार शिक्षाव्रत—ऐसे वारह व्रत श्रावकको होते हैं। इन व्रतोंमें जो शुभविकल्प है वह तो पुण्यवन्धका कारण है और उस समय स्वद्रव्यके आलंवनरूप जितनी शुद्धता होती है वह संवर-निर्जरा है। ज्ञायक आत्मा रागके एक अंशका भी कर्त्ता नहीं, और रागके एक अंशसे भी उसे लाभ नहीं ऐसा भान धर्मीको वना रहता है। यदि ज्ञानमें रागका कर्तृत्व माने अथवा रागसे लाभ माने तो मिथ्यात्व है। भेदज्ञानीको शुभरागमें पापसे वचा उतना लाभ कहलाता है, परन्तु निश्चयधर्मका लाभ उस शुभरागमें नहीं। धर्मका लाभ तो जितना वीतरागभाव हुआ उतना ही है। सम्यक्त्व सहित अंशरूपमें वीतरागभावपूर्वक श्रावकपना शोभता है।

भाई, आत्माके खजानेको खोलनेके लिये ऐसा अवसर मिला, उसमें विकथामें, पापस्थानमें और पापाचारमें समय गमाना कैसे निभे? सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कहे हुए आत्माके शुद्ध स्वभावको लक्षमें लेकर वारम्वार उसको अनुभवमें ला और उसमें एकाग्रताकी वृद्धि कर। लोकमें ममता वाले जीव भोजन आदि सर्व प्रसंगमें स्त्री-पुत्रादिको ममतासे याद करते हैं उसी प्रकार धर्मके प्रेमी जीव भोजनादि सर्व प्रसंगमें प्रेमपूर्वक धर्मात्माको याद करते हैं कि मेरे आँगनमें कोई धर्मात्मा अथवा कोई मुनिराज पधारें तो उनको भक्तिपूर्वक भोजन देकर मैं भोजन करूँ। भरत चक्रवर्ती जैसे धर्मात्मा भी भोजनके समय रास्ते पर आकर मुनिराजके आगमनकी प्रतीक्षा करते थे, और मुनिराजके पधारने पर




परम भक्तिपूर्वक आहारदान करते थे। अहा! ऐसा लगे कि आँगनमें कल्पवृक्ष फलित हुआ, इससे भी अधिक आनंद मोक्षमार्गसाधक मुनिराजको अपने आँगनमें देखकर धर्मात्माको होता है। अपनी रागरहित चैतन्यस्वभावकी दृष्टि है और सर्व संगत्यागकी बुद्धि है वहाँ गृहस्थको ऐसे शुभभाव आते हैं। उस शुभरागकी मर्यादा जितनी है उतनी वह जानता है। अन्तरका मोक्षमार्ग तो रागसे पार चैतन्यस्वभावके आश्रयसे परिणमता है। श्रावकके व्रतमें मात्र शुभरागकी बात नहीं है। जो शुभराग है उसे तो जैनशासनमें पुण्य कहा है और उस समय श्रावकको जितनी शुद्धता स्वभावके आश्रयसे वर्तती है उतना धर्म है, वह परमार्थ व्रत है, और वह मोक्षका साधन है—ऐसा समझना।



# [ ७ ]

# गृहस्थको सत्पात्रदानकी मुख्यता

भाई ! लक्ष्मी तो क्षणभंगुर है; तू दान द्वारा लक्ष्मी आदिका प्रेम हटाकर धर्मका प्रेम बढ़ा। जिसे धर्मका उल्लास होता है उसे धर्म प्रसंगमें तन-मन-धन खर्च करनेका उल्लास आये विना नहीं रहता। धर्मकी शोभा किस प्रकार बढ़े, धर्मात्मा किस प्रकार आगे बढ़े और साधर्मियोंको कोई प्रतिकूलता हो तो वह कैसे दूर हो—ऐसा प्रसंग विचारकर श्रावक उसमें उत्साहसे वर्तता है। ऐसे धर्मके प्रेमी श्रावकको दानके भाव होते हैं।

सम्यग्दर्शनपूर्वक देशव्रती श्रावकको अष्ट मूलगुण और बारह अणुव्रत होते हैं—यह बतलाया है। अब कहते हैं कि—गृहस्थको यद्यपि जिनपूजा आदि अनेक कार्य होते हैं तो भी उनमें सत्पात्रदान सबसे मुख्य है—

देवाराधनपूजनादिबहुषु व्यापारकार्येषु सत्
पुण्योपार्जनहेतुषु प्रतिदिनं संजायमानेष्वपि।
संसारार्णवतारणे प्रवहणं सत्पात्रमुद्दिश्य यत्
तद्देशव्रतधारिणो धनवतो दानं प्रकृष्टो गुणः ॥ ७ ॥

श्रावकको सत् पुण्योपार्जनके कारणरूप जिनदेवका आराधन-पूजन आदि अनेक कार्य हमेशा होते हैं; उसमें भी धनवान श्रावकका तो, संसार-समुद्रको पार करनेके लिये नौका समान ऐसा सत्पात्रदान उत्तम गुण है; अर्थात् श्रावकके सब कार्योंमें दान मुख्य कार्य है।

धर्मी जीव प्रतिदिन धर्मकी प्रभावना, ज्ञानका प्रचार, भगवानकी पूजा-भक्ति आदि कार्योंमें अपनी लक्ष्मीका सदुपयोग किया क [illegible] नमें धर्मात्माको मुनि आदिके प्रति

भक्तिपूर्वक दान देना मुख्य है। आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान और अभयदान ये चार प्रकारके दान आगेके चार श्लोकोंमें बतावेंगे।

धनवान अर्थात् जिसने अभी परिग्रह नहीं छोड़ा ऐसे श्रावकका मुख्य कार्य सत्-पात्रदान है। सम्यग्दर्शनपूर्वक जहाँ ऐसे दान-पूजादिका शुभराग आता है वहाँ अन्तर्-दृष्टिमें उस रागका भी निषेध वर्तता है, अर्थात् उस धर्मीको उस रागसे "सत् पुण्य" बंधता है। अज्ञानीको "सत् पुण्य" नहीं होता, क्योंकि उसे तो पुण्यकी रुचि है, रागके आदरकी बुद्धिसे पुण्यके साथ मिथ्यात्वरूपी बड़ा पापकर्म उसे बंधता है।

यहाँ दानकी मुख्यता कही है उससे अन्यका निषेध न समझना। जिनपूजा आदि को भी सत् पुण्यका हेतु कहा है, वह भी श्रावकको प्रतिदिन होता है। कोई उसका निषेध करे तो उसे श्रावकपनेकी या धर्मकी खबर नहीं है।

जिनपूजाको कोई परमार्थसे धर्म ही मान ले तो भूल है, और जिनपूजाका कोई निषेध करे तो वह भी भूल है। जिन-प्रतिमा जैनधर्ममें अनादिकी वस्तु है। परन्तु वह जिन प्रतिमा वीतराग हो—"जिन प्रतिमा जिनसारखी" किसीने इस जिन-प्रतिमाके पर चन्दन-पुष्प-आभरण-मुकुट-वस्त्र आदि चढ़ाकर उसका स्वरूप विकृत कर दिया, और किसीने जिन-प्रतिमाके दर्शन-पूजनमें पाप बतलाकर उसका निषेध किया हो,—वह दोनोंकी भूल है। इस सम्बन्धी एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है—दो मित्र थे; एक मित्रके पिताने दूसरेके पिताको १०० (एकसौ) रुपये उधार दिये, और वहीमें लिख लिये। दूसरेका पिता मर गया। कितने ही वर्षोंके बाद पुराने वहीखाते देखते पहले मित्रको खबर लगी की मेरे पिताने मित्रके पिताको एक सौ रुपया दिये थे; परन्तु उसे तो बहुत वर्ष बीत गये। ऐसा समझकर उसने १०० ऊपर आगे दो बिन्दु लगाकर १०,००० (दस हजार) बना दिये; और पश्चात् मित्रको कहा कि तुम्हारे पिताने मेरे पितासे दस हजार रुपये लिये थे, इसलिये लौटाओ। इस मित्रने कहा कि मैं मेरे पुराने वही-चोपड़े देखकर फिर कहूँगा। घर जाकर पिताकी वहियाँ देखीं तो उसमें दस हजारके बदले सौ रुपये निकले। इस पर उसने विचार किया कि जो रुपये स्वीकार करता हूँ तो मुझे दस हजार रुपये देना पड़ेगे। इसलिये उसकी नीयत खराब हो गई और उसने तो मूलसे ही उड़ा दी की मेरी वहियोंमें कुछ नहीं निकलता। इसमें सौ रुपयेकी रकम तो सच्ची थी, परन्तु एकने लोभवश उसमें दो बिन्दु बढ़ा दिये और दूसरेने वह रकम सम्पूर्ण उड़ा दी। उसी प्रकार अनादि जिनमार्गमें जिनप्रतिमा, जिनमन्दिर, उनकी पूजा आदि यथार्थ हैं; परन्तु एकने दो बिन्दुओंकी तरह उसके ऊपर वस्त्र-आभरण आदि परिग्रह

बढ़ाकर विकृति कर डाली और दूसरेने तो शास्त्रमें मूर्ति ही नहीं ऐसा गलत अर्थ करके उसका निषेध किया है। और इन दोके अतिरिक्त, वीतरागी जिनप्रतिमाको स्वीकार करके भी उस तरफके शुभरागका जो मोक्षके साधनरूप धर्म बतावे उसने भी धर्मके सच्चे स्वरूपको नहीं समझा है। भाई, जिनप्रतिमा है, उसके दर्शन-पूजनका भाव होता है, परन्तु उसकी सीमा कितनी? कि शुभराग जितनी।—इससे आगे बढ़कर इसे जो तू परमार्थधर्म मान ले तो वह तेरी भूल है।

एक शुभ विकल्प उठे वह भी वास्तवमें ज्ञानका कार्य नहीं; मैं तो सर्वज्ञस्वभावी हूँ, जैसे सर्वज्ञमें विकल्प नहीं वैसे ही मेरे ज्ञानमें भी रागरूपी विकल्प नहीं है। "ये विकल्प उठते हैं न?"—तो कहते हैं कि वह कर्मका कार्य है, मेरा नहीं। मैं तो ज्ञान हूँ, ज्ञानका कार्य राग कैसे हो?—इस प्रकार ज्ञानीको रागसे पृथक् त्रैकालिक स्वभावके भानपूर्वक उसे टालनेका उद्यम होता है। जिसने रागसे पृथक् अपने स्वरूपको नहीं जाना और रागको अपना स्वरूप माना है वह रागको कहाँसे टाल सकेगा? ऐसे भेदज्ञानके बिना सामायिक भी सच्ची नहीं होती। सामायिक तो दो घड़ी अंतरमें निर्विकल्प आनन्दके अनुभवका एक अभ्यास है; और दिन-रात चौबीस घन्टे आनन्दके अनुभवकी जाँच उसका नाम प्रौषध है; और शरीर छूटनेके प्रसंगमें अंतरमें एकाग्रताका विशेष अभ्यासका नाम संल्लेखना अथवा संथारा है। परन्तु जिसे रागसे भिन्न आत्मस्वभावका अनुभव ही नहीं उसे कैसी सामायिक? और कैसा प्रौषध? और कैसा संथारा? भाई, यह वीतराग-मार्ग जगतसे न्यारा है।

यहाँ अभी जिसने सम्यक्‌दर्शन सहित व्रत अंगीकार किये हैं ऐसे धर्मी श्रावकको जिनपूजा आदिके उपरान्त दानके भाव होते हैं उसकी चर्चा चल रही है। तीव्र लोभरूपी कुवेकी खोलमें फँसे हुए जीवोंको उसमेंसे बाहर निकलनेके लिये श्री पद्मनन्दी स्वामीने करुणा करके दानका विशेष उपदेश दिया है। दान अधिकारकी छयालीसवीं गाथामें कौवेका दृष्टान्त देकर कहा है कि—जो लोभी पुरुष दान नहीं देता और लक्ष्मीके मोहरूपी बंधनसे बँधा हुआ है, उसका जीवन व्यर्थ है; उसकी अपेक्षा तो वह कौवा श्रेष्ठ है जो अपनेको मिली हुई जली खुरचनको काँव काँव करके दूसरे कौयोंको बुलाकर खाता है। जिस समयमें तेरे गुण जले अर्थात् उनमें विकृत हुई उस समयमें रागसे पुण्य बँधा, उस पुण्यसे कुछ लक्ष्मी मिली, और अब तू सत्‌पात्रके दानमें उसे नहीं खर्चे और मात्र पापहेतुमें ही खर्चे तो तुझे सिर्फ पापका ही बंधन होता है; तेरी यह लक्ष्मी तुझे बंधनका ही कारण है। सत्‌पात्र दानरहित जीवन निष्फल है; क्योंकि जिसमें धर्मका और

धर्मात्माका प्रेम नहीं—उसमें आत्माका क्या लाभ!

भाई, यह दानका उपदेश संत तेरे हितके लिये देते हैं। संत तो वीतरागी हैं और उन्हें तेरे धनकी वाञ्छा नहीं, वे तो परिग्रहरहित दिगम्बर संत वन-जंगलमें वसने वाले और चैतन्यके आनन्दमें झूलने वाले हैं। यह जीवन, यौवन और धन सब स्वप्न-समान क्षणभंगुर हैं,—तो भी जो जीव सत्पात्रदान आदिमें उसका उपयोग नहीं करते और लोभरूपी कुएँकी खोलमें भरे हुए हैं उन पर करुणा करके उद्धारके लिये संतोंने यह उपदेश दिया है। अंतरमें सम्यक्दृष्टिपूर्वक अन्य धर्मात्माओंके प्रति दान-बहुमानका भाव आवे उसमें स्वयंकी धर्मभावना पुष्ट होती है, इसलिये ऐसा कहा कि दान श्रावकको भवसमुद्रसे तिरनेके लिये जहाजके समान है। जिसे निज-धर्मका प्रेम है उसे अन्य धर्मात्माके प्रति प्रमोद-प्रेम और बहुमान आता है। धर्म, धर्मीजीवके आधारसे है इसलिये जिसे धर्मी जीवोंके प्रति प्रेम नहीं उसे धर्मका प्रेम नहीं। जो मनुष्य साधर्मी-सज्जनोंके प्रति शक्ति अनुसार वात्सल्य नहीं करता उसकी आत्मा प्रबल पापसे ढँकी हुई है और धर्मसे वह विमुख है अर्थात् वह धर्मका अभिलाषी नहीं। भव्य जीवोंको साधर्मी-सज्जनोंके साथ अवश्य प्रीति करनी चाहिए—ऐसा उपासक-संस्कारकी गाथा ३६ में पद्मनन्दी स्वामीने कहा है। भाई, लक्ष्मी आदिका प्रेम घटाकर धर्मका प्रेम बढ़ा। स्वयंको धर्मका उल्लास आवे तो धर्मप्रसंगमें तन-मन-धन खर्च करनेका भाव उछले बिना नहीं रहे; धर्मात्माको देखते ही उसे प्रेम उमड़ता है। वह जगतको दिखानेके लिये दानादि नहीं करता, परंतु स्वयंको अंतरमें धर्मका ऐसा प्रेम सहज ही उल्लसित होता है।

धर्मात्माकी दृष्टिमें तो आत्माके आनन्दस्वभावकी ही मुख्यता है, परन्तु उसको शुभ कार्योंमें दानकी मुख्यता है। दृष्टिमें आत्माके आनन्दकी मुख्यता रखते हुए भूमिका अनुसार दानादिके शुभ भावोंमें वह प्रवर्तता है। वह किसीको दिखानेके लिये नहीं करता परन्तु अन्तरमें धर्मके प्रति उसको सहजरूपसे उल्लास आता है।

लोग स्थूलदृष्टिसे धर्मीको मात्र शुभभाव करता हुए देखते हैं, परन्तु अन्दरकी गहराईमें धर्मीकी मूलभूत दृष्टि वर्तती है—जो स्वभावका अवलम्बन कभी नहीं छोड़ती और रागको कभी आत्मरूप नहीं करती,—उसको दुनियाँ नहीं देखती। परन्तु धर्मका मूल तो यह दृष्टि है। "धर्मका मूल गहरा है।" गहरा ऐसा जो अन्तरंगस्वभावधर्मका वटवृक्ष है, उस ध्रुव पर दृष्टि डालकर एकाग्रताका सींचन करते-करते इस वटवृक्षमेंसे केवल-ज्ञान प्रगट होगा। अज्ञानीके शुभभाव अर्थात् परलक्षी शास्त्रपठन ये तो भाद्रपद महिनेके भींडीके पौधे जैसे हैं, वे लम्बे काल तक टिकेंगे नहीं। धर्मात्माको ध्रुवस्वभावकी दृष्टिसे

धर्मका विकास होता है बीचमें शुभराग और पुण्य आता है उसको तो वह हेय जानता है:—जो विकार है उसकी महिमा क्या? और उससे आत्माकी महत्ता क्या? अज्ञानी तो राग द्वारा अपनी महत्ता मानकर, स्वभावकी महत्ताको भूल जाता है और संसारमें भटकता है। ज्ञानीको सत्स्वभावकी दृष्टिपूर्वक जो पुण्यबंध होता है उसे सत् पुण्य कहते हैं; अज्ञानीके पुण्यको सत् पुण्य नहीं कहते।

जिसे राग-पुण्यकी और उसके फलकी प्रीति है वह तो अभी संयोग ग्रहण करनेकी भावनावाला है, अर्थात् उसे दानकी भावना सच्ची नहीं होती। स्वयं तृष्णा घटावे तो दानका भाव कहा जाता है। परन्तु जो अभी किसीको ग्रहण करनेमें तत्पर है और जिसे संयोगकी भावना है वह राग घटाकर दान देनेमें राजी कहाँसे होगा? मेरा आत्मा ज्ञानस्वभावी, स्वयंसे पूर्ण है, परका ग्रहण अथवा त्याग मेरेमें है ही नहीं,—ऐसे असंगस्वभावकी दृष्टिवाला जीव परसंयोगहेतु माथापच्ची न करे: इसे संयोगकी भावना कितनी टल गई है? परन्तु इसका माप अन्तर्दृष्टि विना पहिचाना नहीं जा सकता।

भाई, तुझे पुण्योदयसे लक्ष्मी मिली और जैनधर्मके सच्चे देव-गुरु महारत्न तुझे महाभाग्यसे मिले; अब जो तू धर्म-प्रसंगमें तेरी लक्ष्मीका उपयोग करनेके बदले स्त्री-पुत्र तथा विषय-कषायके पापभावमें ही धनका उपयोग करता है तो हाथमें आया हुआ रत्न समुद्रमें फेंक देने जैसा तेरा कार्य है। धर्मका जिसे प्रेम होता है वह तो धर्मकी वृद्धि किस प्रकार हो, धर्मात्मा कैसे आगे बढ़े, साधर्मियोंको कोई भी प्रतिकूलता हो तो वह कैसे दूर हो—ऐसे प्रसंग विचार-विचारकर उनके लिये उत्साहसे धन खर्चता है। धर्मी जीव वारम्वार जिनेन्द्रपूजनका महोत्सव करता है। पुत्रके लग्नमें कितने उत्साहसे धन खर्च करता है! उधार करके भी खर्चता है, तो धर्मकी लगनमें देव-गुरुकी प्रभावनाके लिये और साधर्मीके प्रेमके लिये उससे भी विशेष उल्लासपूर्वक प्रवर्तना योग्य है। एकवार शुभभावमें कुछ खर्च कर दिया इसलिये बस है,—ऐसा नहीं, परन्तु बारम्बार शुभकार्यमें उल्लाससे वर्ते।

दान अपनी शक्ति अनुसार होता है, लाख-करोड़की सम्पत्तिमेंसे सौ रुपया खर्च हो—वह कोई शक्ति-अनुसार नहीं कहा जा सकता। उत्कृष्टरूपसे चौथा भाग, मध्यमरूपसे छट्ठा भाग, तथा कमसे कम दसवाँ भाग खर्च करे उसको शक्ति-अनुसार दान कहा गया है।

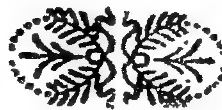
देखिये, यह किसी प्रकार कोई परके लिये करनेकी बात नहीं है, परन्तु आत्माके भान सहित परिग्रहकी ममता घटानेकी बात है। नये-नये महोत्सवके प्रसंग तैयार करके श्रावक अपने धर्मका उत्साह बढ़ाता जाता है और पापभाव घटाता जाता है। उन

प्रसंगोंमें मुनिराजको अथवा धर्मात्माको अपने आँगनमें पधराकर भक्तिसे आहारदान करना उसका प्रधान कर्तव्य कहा गया है क्योंकि उसमें धर्मके स्मरणका और धर्मकी भावनाकी पुष्टिका सीधा निमित्त है। मुनिराज इत्यादि धर्मात्माको देखते ही स्वयंके रत्नत्रयधर्मकी भावना तीव्र हो जाती है।

कोई कहे कि हमारे पास बहुत सम्पत्ति नहीं है, तो कहते हैं कि भाई कम पूँजी हो तो कम ही खर्च। तुझे तेरे भोग-विलासके लिये लक्ष्मी मिलती है और धर्मप्रभावनाका प्रसंग आता है वहाँ तू हाथ खींच लेता है, तो तेरे प्रेमकी दिशा धर्मकी तरफ नहीं परन्तु संसार तरफ है। धर्मके वास्तविक प्रेमवाला धर्मप्रसंगमें नहीं छिपता।

भाई, लक्ष्मीकी ममता तो तुझे केवल पापबन्धका कारण है; स्त्री, पुत्रके लिये या शरीरके लिये तू जो लक्ष्मी खर्च करेगा वह तो तुझे मात्र पापबन्धका ही कारण होगी। और वीतरागी देव-गुरु-धर्म-शास्त्र-जिनमंदिर आदिमें जो तेरी लक्ष्मीका सदुपयोग करे तो वह पुण्यका कारण होगी और तेरे धर्मके संस्कार भी दृढ़ होंगे। इसलिये संसारके निमित्त और धर्मके निमित्त इन दोनोंका विवेक कर। धर्मात्मा श्रावकको तो सहज ही यह विवेक होता है और उसे सुपात्रदानका भाव होता है। जैसे रिश्तेदारको प्रेमसे-आदरसे जिमाता है उसीप्रकार सच्चा सम्बन्ध साधर्मीसे है। साधर्मी-धर्मात्माओंको प्रेमसे-बहुमानसे घर बुलाकर जिमाता है,—ऐसे दानके भावको संसारसे तिरनेका कारण कहा है, क्योंकि मुनिके या धर्मात्माके अन्तरके ज्ञानादिकी पहचान वह संसारसे तिरनेका हेतु होता है। सच्ची पहिचानपूर्वक दानकी यह बात है। सम्यग्दर्शन बिना अकेले दानके शुभपरिणामसे भवका अन्त हो जाय—ऐसा नहीं बनता। यहाँ तो सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रावकको दानके भाव होते हैं इसकी मुख्यता है।

दानके चार प्रकार हैं—आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान और अभयदान—उनका वर्णन करते हैं।



# [ ८ ]

# आहारदानका वर्णन

卐

चैतन्यकी मस्तीमे मस्त मुनिको देखते हुए गृहस्थको ऐसा भाव आता है कि अहा, रत्नत्रय साधना वाले संतको शरीरकी अनुकूलता रहे ऐसा आहार-औषध देऊँ जिससे वह रत्नत्रयको निर्विघ्न साधे इसमें मोक्षमार्गका बहुमान है कि अहो! धन्य ये सन्त और धन्य आजका दिन कि मेरे आँगनमें मोक्षमार्गी मुनिराजके चरण पड़े ..आज तो मेरे आँगनमें मोक्षमार्ग साक्षात् आया...वाह, धन्य ऐसे मोक्षमार्गी मुनिको देखते ही श्रावकका हृदय बहुमानसे उछल जाता है। जिसे धर्मीके प्रति भक्ति नहीं, आदर नहीं, उसे धर्मका प्रेम नहीं।

धर्मी श्रावकको आहारदानके कैसे भाव होते हैं वह यहाँ बतलाते हैं—

सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत् तन्मोक्ष एव स्फुटं
दृष्ट्यादित्रय एव सिध्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम्।
तद्वृत्तिर्वपुषोऽस्य वृत्तिरशनात् तद्दीयते श्रावकैः
काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते ॥ ८ ॥

सर्व जीव सुख चाहते हैं; वह सुख प्रगटरूपसे मोक्षमें है; उस मोक्षकी सिद्धि सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय द्वारा होती है; रत्नत्रय निर्ग्रन्थ-दिगम्बर साधुको होता है; साधुकी स्थिति शरीरके निमित्तसे होती है, और शरीरकी स्थिति भोजनके निमित्तसे होती है; और भोजन श्रावकों द्वारा देनेमें आता है। इस प्रकार इस अतिशय क्लिष्ट कालमें भी मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति "प्रायः' श्रावकोंके निमित्तसे हो रही है।"

व्यवहारका कथन है इसलिये प्रायः शब्द रखा है; निश्चयसे तो आत्माके शुद्ध भावके आश्रयसे ही मोक्षमार्ग टिका हुआ है, और उस भूमिकामें यथाजातरूपधर निर्ग्रन्थ

शरीर, आहार आदि बाह्य निमित्त होते हैं अर्थात् दानके उपदेशमें प्राय इसके द्वारा ही मोक्षमार्ग प्रवर्तता है—ऐसा निमित्तसे कहा जाता है। वास्तवमें कोई आहार या शरीरसे मोक्षमार्ग टिकता है—ऐसा नहीं बताना है। अरे, मोक्षमार्गके टिकनेमें जहाँ महाव्रत आदिके शुभरागका सहारा नहीं वहाँ शरीर और आहारकी क्या बात? इसके आधारसे मोक्षमार्ग कहना वह सब निमित्तका कथन है। यहाँ तो आहारदान देनेमें धर्मी जीव—श्रावकका ध्येय कहाँ है? वह बतलाना है। दान आदिके शुभभावके समय ही धर्मी गृहस्थको अन्तरमें मोक्षमार्गका बहुमान है; पुण्यका बहुमान नहीं, बाह्य क्रियाका कर्तव्य नहीं, परन्तु मोक्षमार्गका ही बहुमान है कि अहो, धन्य ये सन्त! धन्य आजका दिन कि मेरे आँगनमें मोक्षमार्गी मुनिराज पधारे! आज तो जीता-जागता मोक्षमार्ग मेरे आँगनमें आया। अहो, धन्य यह मोक्षमार्ग! ऐसे मोक्षमार्गी मुनिको देखते ही श्रावकका हृदय बहुमानसे उछल उठता है, मुनिके प्रति उसे अत्यन्त भक्ति और प्रमोद उत्पन्न होता है। "साचुं रे सगपण साधर्मीनणुं—अन्य लौकिक सम्बन्धकी अपेक्षा उसे धर्मात्माके प्रति विशेष उल्लास आता है। मोही जीवको स्त्री-पुत्र-भाई-बहन आदिके प्रति प्रेमरूप भक्ति आती है वह तो पापभक्ति है; धर्मी जीवको देव-गुरु-धर्मात्माके प्रति परम प्रीतिरूप भक्ति उछल उठती है; वह पुण्यका कारण है और इसमें वीतरागविज्ञानमय धर्मके प्रेमका पोषण होता है। जिसे धर्मीके प्रति भक्ति नहीं उसे धर्मके प्रति भी भक्ति नहीं, क्योंकि धर्मीके बिना धर्म नहीं होता। जिसे धर्मका प्रेम हो उसे धर्मात्माके प्रति उल्लास आये बिना नहीं रहता।

सीताजीके विरहमें रामचन्द्रजीकी चेष्टा साधारण लोगोंको तो पागल जैसी लगे, परन्तु उनका अन्तरंग कुछ भिन्न ही था। अहो, सीता मेरी सहधर्मिणी! उसके हृदयमें धर्मका वास है, उसे आत्मज्ञान वर्त रहा है; वह कहाँ होगी? इस जंगलमें उसका क्या हुआ होगा? इस प्रकार साधर्मीपनेके कारण रामचन्द्रजीको सीताके हरणसे विशेष दुःख आया था। अरे, यह धर्मात्मा देव-गुरुकी परम भक्त, इसे मेरा वियोग हुआ, मुझे ऐसी धर्मात्मा-साधर्मीका विछोह हुआ,—ऐसे धर्मकी प्रधानताका विरह है। परन्तु ज्ञानीके हृदयको संयोगकी ओरसे देखने वाले मूढ़ जीव परख नहीं सकते।

धर्मी—श्रावक अन्य धर्मात्माको देखकर आनन्दित होते हैं और बहुमानसे आहारदान आदिका भाव आता है, उसका यह वर्णन चल रहा है। मुनिको तो कोई शरीर पर राग नहीं है, वे चैतन्यसाधनामें लीन हैं; और जब कभी देहकी स्थिरताके लिये आहारकी वृत्ति उठती है तब आहारके लिये नगरीमें पधारते हैं। ऐसे मुनिको देखते

गृहस्थको ऐसे भाव आते हैं कि अहो! रत्नत्रयको साधनेवाले इन मुनिको शरीरकी अनुकूलता रहे ऐसा आहार-औषध देऊँ जिससे ये रत्नत्रयको निर्विघ्न साधें। इस प्रकार व्यवहारसे शरीरको धर्मका साधन कहा है और उस शरीरका निमित्त अन्न है; अर्थात् वास्तवमें तो आहारदान देनेके पीछे गृहस्थकी भावना परम्परासे रत्नत्रयके पोषणकी ही है, इसका लक्ष्य रत्नत्रय पर है। और उस भक्तिके साथ अपजे आत्मामें रत्नत्रयकी भावना पुष्ट करता है। श्रीरामचन्द्जी और सीताजी जैसे भी परमभक्तिसे मुनियोंको आहार देते थे।

मुनियोंके आहारकी विशेष विधि है। मुनि जहाँ-तहाँ आहार नहीं करते। वे जैनधर्मकी श्रद्धावाले श्रावकके यहाँ ही नवधाभक्ति आदि विधिपूर्वक आहार करते हैं। श्रावकके यहाँ भी बुलाये विना (-भक्तिसे पड़गाहन—निमंत्रण किये विना) मुनि आहारके लिये नहीं पधारते। और पीछे श्रावक अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक नौ प्रकार भक्तिसे निर्दोष आहार मुनिके हाथमें देते हैं। (१-प्रतिग्रहण अर्थात् आदरपूर्वक निमंत्रण, २-उच्च आसन, ३-पाद-प्रक्षालन, ४-पूजन-स्तुति, ५-प्रणाम; ६ मनशुद्धि, ७-वचनशुद्धि, ८-कायशुद्धि और ९-आहारशुद्धि—ऐसी नवधाभक्तिपूर्वक श्रावक आहारदान दे।) जिस दिन मुनिके आहार-दानका प्रसंग अपने आँगनमें हो उस दिन उस श्रावकके आनन्दका पार नहीं होता। श्रीराम और सीता जैसे भी जंगलमें मुनिको भक्तिसे आहारदान करते हैं उस समय एक गृद्धपक्षी (-जटायु) भी उसे देखकर उसकी अनुमोदना करता है और उसे जातिस्मरण-ज्ञान होता है। श्रेयांसकुमारने जब ऋषभमुनिको प्रथम आहारदान दिया तब भरत चक्रवर्ती उसे धन्यवाद देने उसके घर गये थे। यहाँ मुनिकी उत्कृष्ट बात ली, उसीप्रकार अन्य साधर्मी श्रावक धर्मात्माके प्रति भी आहारदान आदिका भाव धर्मीको होता है। ऐसे शुभभाव श्रावककी भूमिकामें होते हैं इसलिये उसे श्रावकका धर्म कहा है, तो भी उसकी मर्यादा कितनी?—कि पुण्यबन्ध हो इतनी, इससे अधिक नहीं। दानकी महिमाका वर्णन करते हुए उपचारसे ऐसा भी कहा है कि मुनिको आहारदान श्रावकको मोक्षका कारण है,—वहाँ वास्तवमें तो श्रावकको उस समयमें जो पूर्णताके लक्षसे सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान वर्तता है वही मोक्षका कारण है, राग कहीं मोक्षका कारण नहीं—ऐसा समझना।

सब जीवोंको सुख चाहिये।

पूर्ण सुख मोक्षदशामें है।

* मोक्षका कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है

* यह रत्नत्रय निर्ग्रंथ मुनिको होता है।

* मुनिका शरीर आहारादिके निमित्तसे टिकता है।
* आहारका निमित्त गृहस्थ-श्रावक है।
* इसलिये परम्परासे गृहस्थ मोक्षमार्गका कारण है।

जिस श्रावकने मुनिको भक्तिसे आहारदान दिया उसने मोक्षमार्ग टिकाया, ऐसा परम्परा निमित्त अपेक्षासे कहा है। परन्तु इसमें आहार लेनेवाला और देनेवाला दोनों सम्यग्दर्शन सहित हैं, दोनोंको रागका निषेध और पूर्ण विज्ञानघनस्वभावका आदर वर्तता है। आहारदान देनेवालेको भी सत्पात्र और कुपात्रका विवेक है। चाहे जैसे मिथ्यादृष्टि अन्य लिंगीको गुरु मानकर आदर करे उसमें तो मिथ्यात्वकी पुष्टि होती है।

धर्मी श्रावकको तो मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिका प्रेम है। सुख तो मोक्षदशामें है ऐसा उसने जाना है अर्थात् उसे कहीं सुखबुद्धि नहीं है। रत्नत्रयधारी दिगम्बर मुनि ऐसे मोक्ष-सुखको साध रहे हैं, इससे मोक्षाभिलाषी जीवको ऐसे मोक्षसाधक मुनिके प्रति परम उल्लास, भक्ति और अनुमोदना आती है; वहाँ आहारदान आदिके प्रसंग सहज ही बन जाते हैं।

देखो, यहाँ तो श्रावक ऐसा है कि जिसे मोक्षदशामें ही सुख भासित हुआ है, संसारमें अर्थात् पुण्यमें—रागमें—संयोगमें कहीं सुख नहीं भासता। जिसे पुण्यमें मिठास लगे, रागमें सुख लगे, उसे मोक्षके अतीन्द्रियसुखकी प्रतीति नहीं, और मोक्षमार्गी मुनिवरके प्रति उसे सच्ची भक्ति उल्लसित नहीं होती। मोक्षसुख तो रागरहित है; उसे पहचाने विना रागको सुखका कारण माने उसे मोक्षकी अथवा मोक्षमार्गी संतोंकी पहचान नहीं। और पहचान बिनाकी भक्तिको सच्ची भक्ति नहीं कही जाती।

मुनिको आहार देनेवाले श्रावकका लक्ष मोक्षमार्ग पर है कि अहो! ये धर्मात्मा मुनिराज मोक्षमार्गको साध रहे हैं। वह मोक्षमार्गके बहुमानसे और उसकी पुष्टिकी भावनासे आहारदान देता है इससे उसे मोक्षमार्ग टिकानेकी भावना है और अपनेमें भी वैसा ही मोक्षमार्ग प्रगट करनेकी भावना है. इसलिये कहा है कि आहारदान देनेवाले श्रावक द्वारा मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति होती है। जैसे बहुत वार संघ जिमाने वालेको ऐसी भावना होती है कि इसमें कोई जीव बाकी नहीं रहना चाहिये; क्योंकि इसमें कदचित् कोई जीव तीर्थंकर होनेवाला हो तो! इस प्रकार जिमानेमें उसे अव्यक्तरूपसे तीथकर आदिके बहुमानका भाव है। उसीप्रकार यहाँ मुनिको आहार देनेवाले श्रावककी दृष्टि मोक्षमार्ग पर है, आहार देऊँ और पुण्य बँधे-इस पर उसका लक्ष नहीं। इसका एक दृष्टान्त आता है कि कोई ने भक्तिसे एक मुनिराजको आहारदान दिया और उसके आँगनमें रत्नवृष्टि हुई; दूसरा कोई

लोभी मनुष्य ऐसा विचारने लगा कि मैं भी इन मुनिराजको आहारदान दूँ जिससे मेरे घर रत्नोंकी वृष्टि होगी।-देखो, इस भावनामें तो लोभका पोषण है। श्रावकको ऐसी भावना नहीं होती; श्रावकको तो मोक्षमार्गके पोषणकी भावना है कि अहो! चैतन्यके अनुभवसे जैसा मोक्षमार्ग मुनिराज साध रहे हैं वैसा मोक्षमार्ग मैं भी साधूँ—ऐसी मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिकी भावना उसे वर्तती है। इसलिये इस क्लिष्ट कालमें भी प्रायः ऐसे श्रावकों द्वारा मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति है—ऐसा कहा जाता है।

अन्दरमें शुद्धदृष्टि तो है, रागसे पृथक् चैतन्यका वेदन हुआ है, वहाँ श्रावकको ऐसे शुभभाव आये उसके फलसे वह मोक्षफलको साधता है ऐसा भी उपचारसे कहा जाता है, परन्तु वास्तवमें उस समय अंतरमें जो रागसे परे दृष्टि पड़ी है वही मोक्षको साध रही है। (प्रवचनसार गाथा २५४ में भी इसी अपेक्षा बात की है।) अन्तर्दृष्टिको समझे विना मात्र रागसे वास्तविक मोक्ष प्राप्ति मान ले तो उसे शास्त्रके अर्थकी अथवा संतोंके हृदयकी खबर नहीं है, मोक्षमार्गका स्वरूप वह नहीं जानता। यह अधिकार ही व्यवहारकी मुख्यतासे है, इसलिये इसमें तो व्यवहार-कथन होगा; अन्तर्दृष्टिको परमार्थ लक्ष्यमें रखकर समझना चाहिये।

एक ओर जोरशोरसे भार देकर ऐसा कहा जाता है कि भूतार्थस्वभावके आश्रयसे ही धर्म होता है, और यहाँ कहा कि आहार या शरीरके निमित्तसे धर्म टिकता है,-तो भी उसमें कोई परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि पहला परमार्थकथन है और दूसरा उपचारकथन है। मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति प्रायः गृहस्थ द्वारा दिये हुए दानसे चलती है, इसमें प्रायः शब्द यह सूचित करता है कि यह नियमरूप नहीं है, जहाँ शुद्धात्माके आश्रयसे मोक्षमार्ग टिके वहाँ आहारादिको निमित्त कहा जाता है,—अर्थात् यह तो उपचार ही हुआ। शुद्धात्माके आश्रयसे मोक्षमार्ग टिकता है—यह नियमरूप सिद्धान्त है, इसके विना मोक्षमार्ग हो नहीं सकता।

सुख अर्थात् मोक्ष; आत्माकी मोक्षदशा ही सुख है, इसके अलावा मकानमें, पैसेमें, रागमें,—कहीं सुख नहीं, धर्मीको आत्मा सिवाय कहीं सुखबुद्धि नहीं है। चैतन्यके बाहर किसी प्रवृत्तिमें कहीं सुख है ही नहीं। आत्माके मुक्तस्वभावके अनुभवमें सुख है। सम्यग्दृष्टिने ऐसी आत्माका निश्चय किया है, उसके सुखका स्वाद चखा है। और जो उग्र अनुभव द्वारा मोक्षको साक्षात् साध रहे हैं ऐसे मुनिके प्रति अत्यन्त उल्लाससे और भक्तिसे वह आहारदान देता है।

आनन्दस्वरूप आत्मामें श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता मोक्षका कारण है और बीचके व्रतादि

शुभपरिणाम पुण्यबन्धके कारण हैं। आत्माके आनन्दसागरको उछालकर उसमें जो मग्न हैं ऐसे नग्नमुनि रत्नत्रयको साध रहे हैं, उसके निमित्तरूप देह है और देहके टिकनेका कारण आहार है, इसलिये जिसने भक्तिसे मुनिको आहार दिया उसने मोक्षमार्ग दिया अर्थात् उसके भावमें मोक्षमार्ग टिकनेका आदर हुआ। इस प्रकार भक्तिसे आहारदान देनेवाला श्रावक इस दुःषम कालमें मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिका कारण है। धर्मात्मा-श्रावक ऐसा समझकर मुनि आदि सत्पात्रको रोज भक्तिसे दान देना चाहिए। अहो, मेरे घर कोई धर्मात्मा संत पधारें, ज्ञान-ध्यानमें अतीन्द्रिय-आनन्दका भोजन करनेवाले कोई संत मेरे घर पधारें, तो भक्तिसे उन्हें भोजन कराकर पीछे मैं भोजन करूँ। ऐसा भाव गृहस्थ-श्रावकको रोज-रोज आता है। ऋषभदेवके जीवने पूर्वके आठवें भवमें मुनिवरोंको परम-भक्तिसे आहारदान दिया था, और तिर्यंचोंने भी उसका अनुमोदन करके उत्तम फल प्राप्त किया था, यह बात पुराणोंमें प्रसिद्ध है। श्रेयांसकुमारने आदिनाथ मुनिराजको आहारदान दिया था।—ये सब प्रसंग प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार चार प्रकारके दानमेंसे आहारदानकी चर्चा की, अब दूसरे औषधि-दानका उपदेश देते हैं।



[ ९ ]

# औषधिदानका वर्णन

देखिये, यहाँ दानमें सामने सत्पात्ररूप मुख्यतः मुनिको लिया है, अर्थात् धर्मके लक्ष्यपूर्वक दानकी इसमें मुख्यता है। दान करनेवालेकी दृष्टि मोक्षमार्ग पर लगी है। शुद्धोपयोग द्वारा केवलज्ञानके कपाट खोल रहे मुनिवर देहके प्रति निर्मम होते हैं। परन्तु श्रावक भक्तिपूर्वक ध्यान रखकर निर्दोष आहारके साथ निर्दोष औषधि भी देता है। मुनिको तो चैतन्यके अमृतसागरमेंसे आनन्दकी लहरें उछली हैं, उन्हें ठंड-गर्मी अथवा देहकी रक्षाका लक्ष्य कहाँ है!

श्रावक मुनि आदिको औषधदान दे—यह कहते हैं—

स्वेच्छाहारविहारजल्पनतया नीरुग्वपुर्जायते
साधूनां तु न सा ततस्तदपटु प्रायेण संभाव्यते ।
कुर्यादौषधपथ्यवारिभिरिदं चारित्र भारक्षमं
यत्तस्मादिह वर्तते प्रशमिनां धर्मो गृहस्थोत्तमात् ॥ ९ ॥

इच्छानुसार आहार-विहार और सम्भाषण द्वारा शरीर निरोग रहता है, परन्तु मुनियोंको तो इच्छानुसार भोजनादि नहीं होता इसलिये उनका शरीर प्रायः अशक्त ही रहता है। परन्तु उत्तम गृहस्थ योग्य औषधि तथा पथ्य भोजन-पानी द्वारा मुनियोंके शरीरको चारित्रपालन हेतु समर्थ बनाता है। इस प्रकार मुनि-धर्मकी प्रवृत्ति उत्तम श्रावक द्वारा होती है। अतः धर्मी गृहस्थोंको ऐसे दानधर्मका पालन करना चाहिये।

जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक शुद्धोपयोग द्वारा केवलज्ञानके कपाट खोल रहे हैं ऐसे मुनिराज शरीरसे भी अत्यन्त उदासीन होते हैं, वे वन-जंगलमें रहते हैं, ठंडमें ओढ़ना अथवा गर्मीमें स्नान करना उन्हें नहीं होता; रोगादि हो तो भी औषधि

नहीं लेते, दिनमें एकवार आहार लेते हैं, उसमें भी कोई वार ठंडा आहार मिलता है, कोई समय तीव्र गर्मीमें गरम आहार मिलता है, इस प्रकार इच्छानुसार आहार उनको नहीं मिलता, अतः मुनिको कई वार रोग—निर्वलता आदि हो जाती है, परन्तु ऐसे प्रसंगमें धर्मात्मा उत्तम श्रावक मुनिका ध्यान रखते हैं, उनको रोग वगैरह हुआ हो तो उसे जानकर, आहारके समय आहारके साथ निर्दोष औषधि भी देते हैं, तथा ऋतु अनुसार योग्य आहार देते हैं। इस प्रकार भक्तिपूर्वक श्रावक मुनिका ध्यान रखते हैं। यहाँ उत्कृष्टरूपसे मुनिकी वात ली है। इससे यह न समझना कि मुनिको छोड़कर अन्य जीवोंको आहार अथवा औषध दान देनेका निषेध है। श्रावक अन्य जीवोंको भी उनकी भूमिकाके योग्य आदरसे अथवा करुणावुद्धिसे योग्य दान दे। परन्तु धर्मप्रसंगकी मुख्यता है, वहाँ धर्मात्माको देखते ही विशेष उल्लास आता है। मुनि उत्तम पात्र हैं इस कारण उनकी मुख्यता है।

अहो मुनिदशा क्या है—उसकी जगतको खवर नहीं है। छोटा-सा राजकुमार हो और मुनि होकर चैतन्यको साधता हो, चैतन्यके अतीन्द्रिय आनन्दका प्रचुर स्वसंवेदन जिसको प्रगट हुआ हो ऐसे मुनि देहसे तो अत्यन्त उदासीन हैं।

सर्व भावथी औदासिन्य वृत्ति करी,
मात्र देह ते संयम हेतु होय जो।

चाहे जितनी ठंड हो परन्तु देह सिवाय अन्य परिग्रह जिसे नहीं, बाह्यदृष्टि वाले जीवोंको लगता है कि ऐसा मुनि बहुत दुःखी होगा। अरे भाई, उनके अन्तरमें तो आनन्दकी धरायें वहती हैं,—कि जिस आनन्दकी कल्पना भी तुझे नहीं आ सकती। चैतन्यकी इस आनन्दकी अभिलाषामें ठंड-गर्मीका लक्ष्य ही कहाँ है? जिस प्रकार मध्य-विन्दुसे सागर उछलता है उसी प्रकार चैतन्यके अन्तरके मध्यमेंसे मुनिको आनन्दकी लहरें उछलती हैं। ऐसे मुनिको रोगादि होवे तो भक्तिपूर्वक ध्यान रखकर उत्तम गृहस्थ पथ्य आहारके साथ योग्य औषधि भी देते हैं—इसका नाम साधु वैयावृत्य है; वह गुरुभक्तिका एक प्रकार है। श्रावकके कर्तव्यमें पहले देव पूजा और दूसरी गुरु उपासना कहीं, उसमें इस प्रकारके भाव श्रावकको होते हैं। मुनि स्वयं तो वोलते नहीं कि मुझे ऐसा रोग हुआ है, अतः ऐसी खुराक अथवा ऐसी दवा दो, परन्तु भक्तिवान श्रावक इसका ध्यान रखते हैं।

देखिये! इसमें मात्र शुभरागकी वात नहीं, परन्तु सर्वज्ञकी श्रद्धा और सम्यग्दर्शन

कैसे हो वह पहले बताया गया है, ऐसी श्रद्धापूर्वक श्रावकधर्मकी यह बात है जहाँ श्रद्धा ही सच्ची नहीं और कुदेव, कुगुरुका सेवन होता है वहाँ तो श्रावकधर्म नहीं होता। श्रावकको मुनि आदि धर्मात्माके प्रति कैसा प्रेम होता है वह यहाँ बताना है। जिस प्रकार अपने शरीरमें रोगादि होने पर दवा करवानेका राग होता है, तो मुनि इत्यादि धर्मात्माके प्रति भी धर्मीको वात्सल्यभावसे औषधिदानका भाव आता है। गृहस्थ प्यारे पुत्रको रोगादि होने पर उसका कैसे ध्यान रखते हैं! तो धर्मीको तो सबसे प्रिय मुनि आदि धर्मात्मा हैं, उनके प्रति उसे आहारदान-औषधिदान-शास्त्रदान इत्यादिका भाव आये बिना नहीं रहता। यहाँ कोई दवासे शरीर अच्छा रहता है अथवा शरीरसे धर्म टिकता है—ऐसा सिद्धान्त नहीं स्थापना है, परन्तु धर्मीको राग किस प्रकार होता है वह बताना है। जिसे धर्मकी अपेक्षा संसारकी तरफका प्रेम अधिक रहे वह धर्मी कैसा? संसारमें जीव स्त्री-पुत्र आदिकी वर्ष गांठ, लग्न-प्रसंग आदिके बहाने रागकी पुष्टि करता है,—वह तो अशुभभाव है तो भी पुष्टि करता है, तो जिसे धर्मका रंग है वह धर्मके जन्मकल्याणक, मोक्षकल्याणक, कोई यात्रा-प्रसंग, भक्ति-प्रसंग, ज्ञान-प्रसंग—आदिके बहाने धर्मका उत्साह व्यक्त करता है। शुभके अनेक प्रकारोंमें औषधिदानका भी प्रकार श्रावकको होता है, उसकी बात की। अब तीसरा ज्ञानदान है उसका वर्णन करते हैं।



हे श्रावक!

यह भवदुःख तुझे प्रिय न लगता हो और स्वभावसुखका अनुभव तू चाहता हो, तो तेरे ध्येयकी दिशा पलट दे; जगतसे उदास होकर अन्तरमें चैतन्यको ध्यानेसे तुझे परम आनन्द प्रगट होगा और भवकी लता क्षणमें टूट जावेगी। आनन्दकारी परम-आराध्य चैतन्यदेव तेरेमें ही विराज रहा है।



[ १० ]

# ज्ञानदान अथवा शास्त्रदानका वर्णन

कुन्दकुन्दाचार्यके जीवने पूर्वमें ग्वालेके भवमें भक्तिपूर्वक मुनिको शास्त्र दिया था—वह उदाहरण शास्त्रदानके लिये प्रसिद्ध है। देखो, इस ज्ञानदानकी बड़ी महिमा है। जिसने सच्चे शास्त्रकी पहचान की है और स्वयं सम्यग्ज्ञान प्रगट किया है उसे गुरुवाणीका जगतमें प्रचार हो और जीव सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके अपना हित करें। ज्ञानके बहुमानपूर्वक शास्त्रदान द्वारा ज्ञानका बहुत क्षयोपशम-भाव प्रगट होता है।

ज्ञानदानकी महिमा और उसका महान फल केवलज्ञान बताते हैं—

व्याख्या पुस्तकदानमुन्नतधियां पाठाय भव्यात्मनां
भक्त्या यत्क्रियते श्रुताश्रयमिदं दानं तदाहुर्बुधाः।
सिद्धस्मिन् जननान्तरेषु कतिषु त्रैलोक्य-लोकोत्सवः
श्रीकारिप्रकटीकृताखिलजगत् कैवल्यभाजो जनाः ॥ १० ॥

सर्वज्ञदेवके कहे हुए शास्त्रोंका भक्तिपूर्वक व्याख्यान करना तथा विशाल बुद्धिवाले जीवोंको स्वाध्याय हेतु पुस्तक देना उसे ज्ञानीजन शास्त्रदान या ज्ञानदान कहते हैं। ऐसे ज्ञानदानका फल क्या? तो कहते हैं कि ऐसे ज्ञानदान द्वारा भव्य जीव थोड़े ही भवोंमें, तीन लोकको आनन्दकारी अर्थात् समवशरण आदि लक्ष्मीको करने वाली, और लोकके समस्त पदार्थोंको हस्तरेखा समान देखने वाली ऐसी केवलज्ञानज्योति प्राप्त करता है; अर्थात् तीर्थंकर-पद सहित केवलज्ञानको प्राप्त करता है, ज्ञानकी आराधनाका जो भाव है उसके फलमें केवलज्ञान प्राप्त होता है और बीचमें ज्ञानके बहुमानका, धर्मीके बहुमानका जो शुभभाव है उससे तीर्थंकर-पद आदि मिलता है। इसलिये अपने हितको चाहने वाले श्रावकको हमेशा ज्ञानदान करना चाहिये।

देखो, इस ज्ञानदानकी महिमा! सच्चे शास्त्र कौन हैं उनकी जिसने पहचान की है और स्वयं सम्यग्ज्ञान प्रगट किया है उसे ऐसा भाव आता है कि अहो, ऐसी जिन-वाणीका जगत्‌में प्रचार हो, और जीव सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके अपना हित करें। ऐसी ज्ञान-प्रचारकी भावनापूर्वक स्वयं शास्त्र लिखे; लिखावे, पढ़े, प्रसिद्ध करे, लोगोंको सरलतासे शास्त्र मिलें—ऐसा करे,—ऐसे ज्ञानदानका भाव धर्मी जीवको आता है; धर्म-जिज्ञासुको भी ऐसा भाव आता है।

ज्ञानदानमें स्वयंके ज्ञानका बहुमान पुष्ट होता है। वहाँ किसी सम्यग्दृष्टि जीवको ऐसा ऊँचा पुण्य बँधता है कि वह तीर्थंकर होता है, और समवशरणमें दिव्यध्वनि खिरती है, इस दिव्यध्वनिको झेलकर बहुतसे जीव धर्म प्राप्त करते हैं। "अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग" अर्थात् ज्ञानके तीव्र रससे वारम्वार उसमें उपयोग लगाना उसे भी तीर्थंकर-प्रकृतिका कारण कहा है। परन्तु ऐसे भाव वास्तवमें किसे होते हैं? ज्ञानस्वरूप आत्माको जानकर जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया हो अर्थात् स्वयं धर्म प्राप्त किया हो उसे ही ज्ञानदान या अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग यथार्थरूपसे होता है। सच्चा मार्ग जिसने जान लिया है ऐसे श्रावकके धर्मकी यह बात है। सम्यग्दर्शन बिना तो व्रत-दान आदि शुभ करते हुए भी वह अनादिसे संसारमें परिभ्रमण कर रहा है। यहाँ तो भेदज्ञान प्रगट कर जो मोक्षमार्गमें आरूढ़ है ऐसे जीवकी बात है। जिसने स्वयं ही ज्ञान नहीं पाया वह अन्यको ज्ञानदान क्या करेगा? ज्ञानके निर्णय बिना शास्त्र आदिके बहुमानसे पुस्तक आदिका दान करे उसमें मोक्षमार्ग बिना पुण्य बँधता है, परन्तु यहाँ श्रावक-धर्ममें तो मोक्षमार्ग सहित दानादिकी प्रधानता है; अर्थात् सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति तो प्रथम करनी चाहिये, उसके बिना मोक्षमार्ग नहीं होता। ज्ञानदान—शास्त्रदान करनेवाले श्रावकको सत्‌शास्त्र और कुशास्त्रके बीच विवेक है। सर्वज्ञकी वाणी झेलकर गणधरादि सन्तों द्वारा रचे हुए वीतरागी शास्त्रोंको पहिचान कर उनका दान और प्रचार करे; परन्तु मिथ्यादृष्टियोंके रचे हुए, तत्त्वविरुद्ध, कुमार्गका पोषण करनेवाले ऐसे कुशास्त्रोंको वह नहीं माने, उनका दान या प्रचार नहीं करे। अनेकान्तमय सत्‌शास्त्रको पहचानकर उनका ही दानादि करे।

संयोग और अशुद्धताकी रुचि छोड़कर अपने चिदानन्दस्वभावकी दृष्टि-रुचि-प्रीति करना वह सम्यग्दर्शन है, वह धर्मकी पहली वस्तु है, उसके बिना पुण्य बँधता है परन्तु कल्याण नहीं होता, मोक्षमार्ग नहीं होता। पुण्यकी रुचिमें रुका, पुण्यके विकल्पमें कर्तृत्वबुद्धिसे तन्मय होकर रुका उसे पुण्यके साथ-साथ मिथ्यात्वका पाप भी बँधता है। पंडित श्री टोडरमलजी मोक्षमार्ग प्रकाशके छठवें अध्यायमें कहते हैं कि—

"जैनधर्ममें तो ऐसी आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छोड़कर पीछे छोटा पाप छोड़नेमें आता है। इसलिये इस मिथ्यात्वको सात व्यसनादिसे भी महान पाप जानकर पहले छुड़ाया है। इसलिये जो पापके फलसे डरता हो, और निजके आत्माको दुःखसमुद्रमें डुबाना न चाहता हो वह जीव इस मिथ्यात्वपापको अवश्य छोड़े। निन्दा-प्रशंसा आदिके विचारसे भी शिथिल होना योग्य नहीं है।"

कोई कहे कि सम्यक्त्व तो बहुत ऊँची भूमिकामें होता है, पहले तो व्रत-संयम होना चाहिये, तो उसे जिनमतके क्रमकी खबर नहीं है। "जिनमतमें तो ऐसी परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व हो, पीछे व्रत हो।" (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २१५) "मुनिपद लेनेका क्रम तो यह है कि पहले तत्त्वज्ञान हो, पीछे उदासीन परिणाम हो, परीषहादि सहन करनेकी शक्ति हो और वह स्वयंकी प्रेरणासे ही मुनि होना चाहे, तब श्रीगुरु उसे मुनिधर्म अंगीकार करावें। परन्तु यह तो किस प्रकारकी विपरीतता है कि तत्त्वज्ञानरहित और विषयासक्त जीवको माया द्वारा अथवा लोभ बताकर मुनिपद देकर, पीछेसे अन्यथा प्रवृत्ति करानी!—यह तो बड़ा अन्याय है।"—दो सौ वर्ष पूर्व पंडित टोडरमलजीका यह कथन है।

बन्धके पाँच कारणोंमें मिथ्यात्व सबसे मुख्य कारण है। मिथ्यात्व छोड़े बिना अव्रत अथवा कषाय आदि नहीं छूटते। मिथ्यात्व छूटते ही अनन्त बन्धन एक क्षणमें टूट जाते हैं। जिसे अभी मिथ्यात्व छोड़नेकी तो इच्छा नहीं उसे अव्रत कहाँसे छूटेंगे? और व्रत कहाँसे आवेंगे? आत्मा क्या है उसकी जिसे खबर नहीं वह किसमें स्थिर रहकर व्रत करेगा। चिदानन्दस्वरूपके अनुभव होनेके पश्चात् उसमें कुछ विशेष स्थिरता करते हैं, तो दो कषायोंकी चौकड़ीके अभावरूप पंचमगुणस्थान प्रगट होता है और उसे सच्चे व्रत होते हैं। ऐसे श्रावकधर्मके उद्योतका यह अधिकार है।

सम्यग्दर्शन बिना क्लेश (आनन्द नहीं पर क्लेश) सहन करके मर जाय तो भी भव घटनेके नहीं। समयसार-कलश टीका, पृष्ठ १२६ में पंडित राजमलजी कहते हैं कि—शुभक्रिया परम्परासे—आगे जाकर मोक्षका कारण होगी—ऐसा अज्ञानीको भ्रम है। हिंसा-झूठ-चोरी-अब्रह्म परिग्रह इनसे रहितपना, तथा महान परीषहोंका सहना,—इसके बड़े बोझसे, बहुत काल तक मरके चूरा होते हुए बहुत कष्ट करते हैं तो करो, परन्तु इसके द्वारा कर्मक्षय तो होता नहीं।' अज्ञानीकी यह सब शुभक्रिया तो कारणरूप हैं, दुःखरूप हैं, शुद्धस्वरूपके अनुभवकी तरह यह कोई सुखरूप नहीं, अनुभवका जो परम आनन्द है उसकी गंध भी शुभरागमें नहीं है। ऐसे शुभरागको कोई मोक्षका कारण माने,

—परम्परासे भी इस रागको मोक्षका कारण होना माने तो कहते हैं कि वह झूठा है, भ्रममें है। मोक्षका कारण यह नहीं है; मोक्षका कारण तो शुद्धस्वरूपका अनुभव है।

प्रश्नः—चौथे कालमें शुद्धस्वरूपका अनुभव मोक्षका कारण भले हो, परन्तु इस कठिन पंचम कालमें तो राग मोक्षका कारण होगा न?

उत्तरः—पंचम कालमें हुए मुनि पंचम कालके जीवोंको यह बात समझाते हैं। चौथे कालका धर्म जुदा और पंचम कालका धर्म जुदा–ऐसा नहीं है। धर्म अर्थात् मोक्षका मार्ग तीनों कालमें एक ही प्रकारका है। जब और जहाँ, जो कोई जीव मोक्ष प्राप्त करेगा वह रागको छोड़कर शुद्धस्वरूपके अनुभवसे ही प्राप्त करेगा। चाहे किसी भी क्षेत्रमें, कोई भी जीव राग द्वारा मोक्ष प्राप्त नहीं करता ऐसा नियम है।

प्रथम जिसने मोक्षमार्गके ऐसे स्वरूपका निर्णय किया है और सम्यग्दर्शन द्वारा अपनेमें उसका अंश प्रगट किया है, उसे बादमें रागकी मंदताके कौनसे प्रकार होते हैं उनके कथनमें चार प्रकारके दानकी बात चल रही है। मुनि आदि धर्मात्माके प्रति भक्तिसे आहारदान-औषधिदानके पश्चात् शास्त्रदानका भी भाव श्रावकको आता है। उसे वीतरागी शास्त्रोंका बहुत विनय और बहुमान होता है; वीतरागी ज्ञानकी प्रभावना कैसे हो, बहुत जीवोंमें इसका प्रचार कैसे हो, इसके लिये वह अपनी शक्ति लगावे इसमें अन्य जीव समझे या न समझे उसकी मुख्यता नहीं परन्तु धर्मीको अपने सम्यग्ज्ञानका बहुत प्रेम है उसकी मुख्यता है; अर्थात् अन्य जीव भी सच्चा तत्त्वज्ञान कैसे प्राप्त करें वैसी भावना धर्मीको होती है।

सर्वज्ञदेव द्वारा कहे गये शास्त्रोंका रहस्य स्वयं जानकर अन्यको उसे समझाना और भक्तिसे उसका प्रचार करना वह ज्ञानदान है। अन्तरमें तो स्वयंने स्वयंको सम्यग्ज्ञानका दान दिया, और बाह्यमें अन्य जीव भी ऐसा ज्ञान प्राप्त करें और भवदुःखसे छूटें—ऐसी भावना धर्मीको होती है। शास्त्रज्ञानके बहाने अन्यको समझाने अथवा प्रचार करनेके बहाने अपनी मान-प्रतिष्ठा अथवा बड़प्पनकी भावना हो तो वह पाप है। धर्मीको ऐसी भावना नहीं होती। धर्मात्मा तो कहता है कि अरे, हमारी ज्ञानचेतनासे हमारा कार्य हमारी आत्मामें हो रहा है, वहाँ बाहर अन्यको बतानेका क्या काम है। अन्य जीव जाने तो इसे संतोष हो ऐसा नहीं, इसे तो अन्तरमें आत्मासे ही सन्तोष है।

"स्वयं एकाकी अन्तरमें अपनी आत्माका कल्याण कर ले वह बड़ा, अथवा बहुतसे जीवोंको समझावे वह बड़ा?"—अरे भाई! अन्य समझे या न समझे उसके साथ इसको क्या सम्बन्ध? कदाचित् अन्य बहुतसे जीव समझें तो भी उस कारणसे इसे जरा भी

लाभ हुआ हो ऐसा नहीं है; और धर्मीको कदाचित् वाणीका योग कम हो (-मूक केवली भगवानकी तरह वाणीका योग न भी हो) तो उससे कोई उसके अन्तरका लाभ रुक जावे ऐसा नहीं। बाहरमें अन्य जीव समझे इस परसे धर्मीका जो माप करना चाहते हैं उन्हें धर्मीकी अन्तरदशाकी पहचान नहीं।

यहाँ ज्ञानदानमें तो यह बात है कि स्वयंको ऐसा भाव होता है कि अन्य जीव भी सच्चे ज्ञानको प्राप्त करें, परन्तु अन्य जीव समझें या न समझें यह उनकी योग्यता पर है, उनके साथ इसे कोई लेना-देना नहीं है। स्वयंको पहले अज्ञान था और महादुःख था, वह दूर होकर स्वयंको सम्यग्ज्ञान हुआ और अपूर्व सुख प्रगट हुआ अर्थात् स्वयंको सम्यग्ज्ञानकी महिमा भासी है, इससे अन्य जीव भी ऐसे सम्यग्ज्ञानको प्राप्त हों तो उनका दुःख मिटे और सुख प्रगटे—इस प्रकार धर्मीको अन्तरमें ज्ञानकी प्रभावनाका भाव आता है और साथमें उसी समय अन्तरमें शुद्धात्माकी भावनासे ज्ञानकी प्र-भावना—उत्कृष्ट भावना और वृद्धि अन्तरमें हो रही है।

देखो, यह श्रावककी दशा! ऐसी दशा हो तभी जैनको श्रवकपना कहलाता है, और मुनिदशा तो उसके पश्चात् होती है। उसने सर्वज्ञका और सर्वज्ञकी वाणीका स्वयं निर्णय किया है। जिसे स्वयं निर्णय नहीं वह सच्चे ज्ञानकी क्या प्रभावना करेगा? यह तो अपने ज्ञानमें निर्णय सहित धर्मात्माकी बात है। और धर्मात्माको, विशेष बुद्धिमान-को बहुमानपूर्वक शास्त्र देना वह भी ज्ञानदान है, शास्त्रोंका सच्चा अर्थ समझाना, प्रसिद्ध करना वह भी ज्ञानदानका भेद है। किसी साधारण मनुष्यको ज्ञानका विशेष प्रेम हो और उसे शास्त्र न मिलते हों तो धर्मी उसे प्रेमपूर्वक प्रबन्ध कर दे।-ऐसा भाव धर्मीको आता है। अपने पास कोई शास्त्र हो और दूसरेके पास न हो वहाँ, अन्य पढ़ेगा तो मुझसे आगे बढ़ जायेगा, मेरा समझना कम हो जायेगा—ऐसी ईर्षावश या मानवश; शास्त्र पढ़नेको माँगे और वह न दे-ऐसे जीवको ज्ञानका सच्चा प्रेम नहीं और शुभभावका भी ठिकाना नहीं। भाई, अन्य जीव ज्ञानमें आगे बढ़ता हो तो भले बढ़े, तुझे उसका अनुमोदन करना चाहिये। तुझे ज्ञानका प्रेम हो तो, अन्य भी ज्ञान प्राप्त करे इसमें अनुमोदन हो कि ईर्षा हो? अन्यके ज्ञानकी जो ईर्षा आती है तो तुझे शास्त्र पढ़-पढ़कर मानका पोषण करना है, तुझे ज्ञानका सच्चा प्रेम नहीं। ज्ञानप्रेमीको अन्यके ज्ञानकी ईर्षा नहीं होती परन्तु अनुमोदना होती है। एक जीव बहुत समयसे मुनि हो, दूसरा जीव पीछेसे अभी ही मुनि हुआ हो और शीघ्र केवलज्ञान प्राप्त कर ले, वहाँ पहले मुनिको ऐसी ईर्षा नहीं होती कि अरे, अभी तो आज ही दीक्षा ली और मुझसे पहले इसने केवलज्ञान प्राप्त कर

लिया! परन्तु उलटकर अनुमोदना आती है कि वाह! धन्य है कि इसने केवलज्ञान साध लिया, मुझे भी यही इष्ट है, मुझे भी यही करना है......इस प्रकार अनुमोदना द्वारा अपने पुरुषार्थको जागृत करता है। ईर्षा करनेवाला तो अटकता है, और अनुमोदना करनेवाला अपने पुरुषार्थको जागृत करता है। अपने अन्तरंगमें जहाँ ज्ञानस्वभावका बहुमान है वहाँ रागके समय ज्ञानकी प्रभावनाका और अनुमोदनाका भाव आये विना नहीं रहता। ज्ञानके बहुमान द्वारा वह थोड़े ही समयमें केवलज्ञान प्राप्त करेगा। रागका फल केवलज्ञान नहीं परन्तु ज्ञानके बहुमानका फल केवलज्ञान है। और साथमें शुभरागसे जो उत्तम पुण्यबन्ध है उसके फलमें समवशरण आदिकी रचना होगी और इन्द्र महोत्सव करेंगे। अभी यहाँ चाहे किसीको खबर न हो परन्तु केवलज्ञान होते ही तीनलोकमें आश्चर्यकारी हलचल हो जावेगी, इन्द्र महोत्सव करेंगे और तीनलोकमें आनंद होगा।

अहो, यह तो वीतरागमार्ग है! वीतरागका मार्ग तो वीतराग ही होता है ना? वीतरागभावकी वृद्धि हो यही सच्ची मार्गप्रभावना है। रागको जो आदरणीय बतावे वह जीव वीतरागमार्गकी प्रभावना कैसे कर सकता है? उसे तो रागकी ही भावना है। जैनधर्मके चारों अनुयोगोंके शास्त्रोंका तात्पर्य वीतरागता है। धर्मी जीव वीतरागी तात्पर्य बतलाकर चारों अनुयोगोंका प्रचार करे। प्रथमानुयोगमें तीर्थंकरादि महान् धर्मात्माओंके जीवनकी कथा, चरणानुयोगमें उनके आचरणका वर्णन, करणानुयोगमें गुणस्थान आदिका वर्णन और द्रव्यानुयोगमें अध्यात्मका वर्णन—इन चार प्रकारके शास्त्रोंमें वीतरागताका ही तात्पर्य है। इन शास्त्रोंका बहुमानपूर्वक स्वयं अभ्यास करे, प्रचार और प्रसार करे। जवाहरातके गहने या बहुमूल्य वस्त्र आदिको कैसे प्रेमसे घरमें सम्भालकर रखते हैं,—इसकी अपेक्षा विशेष प्रेमसे शास्त्रोंको घरमें विराजमान करे, और सजा करके उनका बहुमान करे।—यह सब ज्ञानका ही विनय है।

शास्त्रदानके सम्बन्धमें कुन्दकुन्दस्वामीके पूर्वभवकी कथा प्रसिद्ध है; पूर्वभवमें वह एक सेठके यहाँ गायोंका ग्वाला था। एकबार उस ग्वालेको वनमें कोई शास्त्र मिला; उसने अत्यन्त बहुमानपूर्वक किन्हीं मुनिराजको वह शास्त्रदान किया। उस समय अव्यक्त-रूपसे ज्ञानकी अचिंत्य महिमाका कोई भाव पैदा हुआ; इससे वह उस सेठके घर ही जन्मा; छोटी उम्रमें ही मुनि हुआ और ज्ञानका अगाध समुद्र उनको उल्लसित हुआ। अहा, उन्होंने तो तीर्थंकर परमात्माकी दिव्यवाणी साक्षात् सुनी, और भरतक्षेत्रमें ज्ञानकी नहर चलाई। इनके अन्तरमें ज्ञानकी बहुत शुद्धि प्रगट हुई और बाहरमें भी श्रुतकी महान् प्रतिष्ठा इस भरतक्षेत्रमें उन्होंने की। अहा, उनके निजवैभवकी क्या बात! ज्ञानदानसे

अर्थात् ज्ञानके बहुमानके भावसे ज्ञानका क्षयोपशमभाव खिलता है, और यहाँ तो उसका उत्कृष्ट फल बतलाते हुए कहते हैं कि वह जीव थोड़े भवमें केवलज्ञान प्राप्त करेगा, उसे समवशरणकी शोभाकी रचना होगी और तीन लोकके जीव उसका उत्सव मनावेंगे। क्योंकि ज्ञानानन्दस्वभावके आराधना साथमें वर्तती है अर्थात् आराधकभावकी भूमिकामें ऐसा ऊँचा पुण्य बंधता है। उसमें धर्मीका लक्ष्य ज्ञानस्वभावकी आराधना पर है, राग अथवा पुण्य पर उसका लक्ष्य नहीं है, वह तो बीचमें अनाजके साथके भूसेकी तरह सहज ही प्राप्त हो जाता है।

ज्ञानस्वभावकी आराधनासे धर्मी जीव सर्वज्ञपदको साधता है। उसे किसी समय ऐसा भी होता है कि, अरे! हम भगवानके पास होते, भगवानकी वाणी सुनते और भगवानसे प्रश्नोंका सीधा समाधान लेते, अब भरतक्षेत्रमें भगवानका विरह हुआ, किनसे प्रश्न पूछूँ? और कौन समाधान करे? धर्मात्माको सर्वज्ञ परमात्माके विरहका ऐसा भाव आता है। भरत चक्रवर्ती जैसेको भी ऋषभदेव भगवान मोक्ष पधारे तब ऐसा विरहका भाव आया था। अन्तरंगमें निजके पूर्ण ज्ञानकी भावना है, कि अरे! इस पंचमकालमें अपने सर्वज्ञपदका हमको विरह! अर्थात् निमित्तमें भी सर्वज्ञका विरह सताता है। इस भरतक्षेत्रमें कुन्दकुन्दप्रभुको विचार आया—अरे नाथ! पंचमकालमें इस भरतक्षेत्रमें आपका विछोह हुआ, सर्वज्ञताका विरह हुआ...इस प्रकार सर्वज्ञके प्रति भक्तिका भाव उल्लसित हुआ, और वे चिंतवन करने लगे। वहां पुण्यका योग था और पात्रता भी विशेष थी, इससे सीमंधर भगवानके पास जानेका योग बना। अहा, भरतक्षेत्रका (जीव) मनुष्य शरीरसहित विदेहक्षेत्र गया, और भगवानसे मिलाप हुआ। भगवानकी दिव्यध्वनि साक्षात् श्रावण की और उन्होंने इस भरतक्षेत्रमें श्रुतज्ञानकी धारा बहाई। उन्हें आराधकभावका विशेष जोर और साथमें पुण्यका भी महान योग था। उन्होने तो तीर्थंकर जैसा कार्य किया है।

आराधकका पुण्य लोकोत्तर होता है। तीर्थंकरके जीवको गर्भमें आनेके छह महीनेकी देर हो, अभी तो वह जीव (श्रेणिक आदि कोई) नरकमें हो अथवा स्वर्गमें हो, इधर तो इन्द्र-इन्द्राणी आकर उनके माता-पिताका बहुमान करते हैं कि धन्न रत्नकूँख-धारिणी माता! छह महीने पश्चात् आपकी कूँखमें तीनलोकके नाथ तीर्थंकर आनेवाले हैं!—ऐसा बहुमान करते हैं; और जहाँ उनका जन्म होनेवाला हो वहाँ प्रतिदिन करोड़ों रत्नोंकी वृष्टि करते हैं। छह मास पूर्व नरकमें भी उस जीवको उपद्रव शांत हो जाते हैं। तीर्थंकर-प्रकृतिका उदय तो पीछे तेरहवें गुणस्थानमें केवलज्ञान होगा तब आवेगा, परन्तु

उसके पहले उसके साथ ऐसा पुण्य होता है। (यहाँ उत्कृष्ट पुण्यकी बात है; सभी आराधक जीवोंको ऐसा पुण्य होता है—ऐसा नहीं, परन्तु तीर्थंकर होनेवाले जीवको ही ऐसा पुण्य होता है।) यह सब तो अचिंत्य बात है। आत्माका स्वभाव भी अचिंत्य, और उसका जो आराधक हुआ उसका पुण्य भी अचिंत्य! ऐसी आत्माके लक्ष्यसे श्रावक-धर्मात्मा ज्ञानदान करता है, उसमें उसे रागका निषेध है और ज्ञानका आदर है, इसलिये वह केवलज्ञान प्राप्त कर तीर्थंकर होगा, तीनलोकके जीव उसका उत्सव मनावेंगे और उसकी दिव्यध्वनिसे धर्मका निर्मल मार्ग चलेगा।

इस प्रकार ज्ञानदानका वर्णन किया।



### * जो जैन हुआ वह जिनदेवके सिवा अन्य मार्गको नहीं मानता *

सम्यग्दर्शन होने पर धर्मीको सिद्ध समान अपना शुद्ध आत्मा श्रद्धा-ज्ञान एवं स्वानुभवमें स्पष्ट आ जाता है; तबसे उसकी गति-परिणति विभावोंसे विमुख होकर सिद्ध-पदकी ओर चलने लगी, वह मोक्षमार्गी हुआ। पश्चात् ज्यों-ज्यों शुद्धता और स्थिरता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों श्रावकधर्म और मुनिधर्म प्रगट होता है। श्रावकपना तथा मुनिपना तो आत्माकी शुद्धदशामें रहते हैं, वह कोई बाहरकी वस्तु नहीं है। जैनधर्ममें तीर्थंकरदेवने मोक्षमार्ग कैसा कहा है उसकी खबर न हो, और विपरीतमार्गमें जहाँ-तहाँ मस्तक झुकाता हो—ऐसे जीवको जैनत्व या श्रावकत्व नहीं होता। जैन हुआ वह जिनवर-देवके मार्गके सिवा अन्यको स्वप्नमें भी नहीं मानता।

कोई कहे कि आत्मा एकान्त शुद्ध है और उसे विकार या कर्मका कोई सम्बन्ध है ही नहीं,—तो वह बात यथार्थ नहीं है। आत्मा द्रव्यस्वभावसे शुद्ध है परन्तु पर्यायमें उसे विकार भी है; वह विकार अपनी भूलसे है और स्वभावकी प्रतीति द्वारा वह दूर हो सकता है तथा शुद्धता हो सकती है। विकारभावमें अजीवकर्म निमित्त हैं, विकार टलने पर वे निमित्त भी छूट जाते हैं। इस प्रकार द्रव्य-पर्याय, शुद्धता-अशुद्धता, निमित्त—इन सबका ज्ञान बराबर करना चाहिये। उन्हें जानकर शुद्ध आत्माकी दृष्टि करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि है।

## [ ११ ]

# अभयदानका वर्णन

धर्मी जीव सम्यग्दर्शनादि द्वारा जिस प्रकार अपने दुःखको दूर करनेका उपाय करता है उसीप्रकार अन्य जीवों पर भी उसे करुणाके भाव आते हैं। जिसे जीवदया हो नहीं उसे सच्चा धर्म अथवा दान कहाँसे हो ?...सच्चा अभयपना यह है कि जिससे भवभ्रमणका भय दूर हो, आत्मा निर्भयरूपसे सुखके मार्गकी ओर अग्रसर हो। अज्ञान ही सबसे बड़ा भयका कारण है। सम्यग्ज्ञान द्वारा ही वह भय दूर होकर अभयपना होता है; इसलिये जीवोंको सम्यग्ज्ञानके मार्गमें लगाना सच्चा अभयदान है।

श्रावकधर्मके कथनमें चार प्रकारके दानोंका वर्णन चल रहा है; उसमें आहारदान, औषधदान तथा ज्ञानदान—इन तीनका वर्णन हुआ। अब चौथा अभयदान, उसका वर्णन करते हैं—

सर्वेषामभयं प्रवृद्धकरुणैर्यद्दीयते प्राणिनां
दानं स्यादभयादि तेन रहितं दानत्रयं निष्फलम् ।
आहारौषधशास्त्रदानविधिभिः क्षुद्रोगजाड्याद्भयं
यत्तत्पात्रजने विनश्यति ततो दानं तदेकं परम् ॥

अतिशय करुणावान भव्य जीवों द्वारा समस्त प्राणियोंको जो अभय देनेमें आता है वह अभयदान है। बाकीके तीन दान इस जीवदयाके बिना निष्फल हैं। आहारदानसे क्षुधाका दुःख दूर होता है, औषधदानसे रोगका भय दूर होता है और शास्त्रदानसे अज्ञानका भय दूर होता है—इस प्रकार इन तीन दानोंसे भी जीवोंको अभय ही देनेमें आता है; इसलिये सब दानोंमें अभयदान ही एक श्रेष्ठ और प्रशंसनीय है।

धर्मी जीव अपनी आत्मामें जिस प्रकार सम्यग्दर्शनादि द्वारा दुःख दूर करनेका उपाय करता है उसीप्रकार अन्य जीवोंको भी दुःख न हो, उनका दुःख मिटे ऐसे करुणाके भाव उसे होते हैं। जीवदया भी जिसे न हो उसका तो एक भी दान सच्चा नहीं होता। किसी जीवको मारनेकी अथवा दुःख देनेकी वृत्ति धर्मीको नहीं होती, सब जीवोंके प्रति करुणा होती है। दुःखी जीवोंके प्रति करुणापूर्वक पात्र अनुसार आहार, औषध अथवा ज्ञान आदि देकर उसका भय मिटाता है। देखो, ऐसे करुणाके परिणाम श्रावकको सहज ही होते हैं।

सच्चा अभयदान तो उसे कहते हैं कि जिससे भवभ्रमणका दुःख टले और आत्मा निर्भयरूपसे सिद्धके पन्थकी ओर अग्रसर हो। अज्ञान और मिथ्यात्व ही जीवके लिये सबसे बड़े भय और दुःखका कारण हैं; सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर वह भय दूर होकर आत्मा अभयपना प्राप्त करता है। इसलिये जीवोंको सम्यग्ज्ञानके मार्गमें लगाना ही बड़ा अभयदान है। इसलिये भगवानको भी अभयदाता (अभयदयाणम्) कहा जाता है।

भगवान् और सन्त कहते हैं कि हे जीव! तू अपने स्वरूपको पहचानकर निर्भय हो! शंकाका नाम भय है; जिसको स्वरूपमें शंका है उसे मरण आदिका भय कभी नहीं मिटता। सम्यग्दृष्टि जीव ही निःशंक होनेसे निर्भय है, उसे मरण आदि सात प्रकारके भय नहीं होते। कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि—

सम्यक्त्ववन्त जीव निःशंकित उससे हैं निर्भय खरे,
और सप्त भय प्रविमुक्त हैं जिससे उस हेतु निःशंक हैं।

स्वरूपकी भ्रान्ति दूर हुई वहाँ भय दूर हो गया। शरीर ही मैं नहीं, मैं तो शाश्वत ज्ञानमय आत्मा हूँ, तब मेरा मरण कैसा? और मरण ही नहीं फिर मरणका भय कैसा? मिथ्यात्वमें मरणका भय था, मिथ्यात्व दूर हुआ वहाँ मरणादिका भय मिटा। इसके अतिरिक्त रोगादिका अथवा सिंह-बाघका भय थोड़े समयके लिये चाहे मिट जावे परन्तु जब तक यह भय न मिटे तब तक जीवको सच्चा सुख नहीं होता—इस प्रकार ज्ञानी समझाते हैं कि हे भाई! तू तो ज्ञानस्वरूप है; इस देहका जन्म-मरण वह वास्तवमें तेरा स्वरूप नहीं; अज्ञानसे तूने देहको अपना मानकर उसमें सुखकी कल्पना की है इससे तुझे रोगका, क्षुधाका, मरणादिका भय लगता है। परन्तु देहसे भिन्न वज्र जैसा तेरा ज्ञानस्वरूप है वह निर्भय है, उसे अन्तरमें देखनेसे पर सम्बन्धी कोई भय तुझे नहीं रहेगा—इस प्रकार नित्य अभयस्वरूप समझकर ज्ञानी सच्चा अभयदान देता है, उसमें सब दान समाविष्ट हो जाते हैं। परन्तु जो जीव ऐसी समझनेकी योग्यतावाले न हों ऐसे दुःखी जीवों पर भी

श्रावक करुणा करके जिस प्रकार उसका भय कम हो उस प्रकार उसे आहार, औषध आदिका दान देता है। अपनी आत्माका भय दूर हुआ है और अन्यको अभय देनेका शुभभाव आता है ऐसी श्रावककी भूमिका है। अपना ही भय जिसने दूर नहीं किया वह अन्यका भय कहाँसे मिटावेगा? अज्ञानीको भी जो करुणाभाव आता है, दानका भाव आता है उसमें उसे भी शुभभाव है, परन्तु ज्ञानी जैसे उत्तम प्रकारका भाव उसे नहीं होता।

देखो, कितने ही जीव असंयमी जीवोंके प्रति दया-दानके परिणामको पाप बतलाते हैं, यह तो अत्यन्त विपरीतता है। भूखेको कोई खिलावे, प्यासेको पानी पिलावे, दुष्काल हो, गायें घासके बिना मरती हों और कोई दयाभावसे उन्हें हरा घास खिलावे तो उससे कोई पाप नहीं है; उसके भाव दयाके हैं वे पुण्यके कारण हैं। जीव-दयाके भावमें पाप बतावे वह तो बहुत बड़ी विपरीतता है। धर्म वस्तु तो अभी पृथक् है, परन्तु इसे तो पुण्य और पापके बीचका भी विवेक नहीं है।

इसी प्रकार कोई जीव पंचेन्द्रिय आदि जीवोंकी हिंसा करके उसमें धर्म मनाता है,—वह तो महान पापी है। ऐसे हिंसामार्गको जिज्ञासु कभी ठीक नहीं मानते। एक भी जीवको मारनेका अथवा दुःखी करनेका भाव धर्मी श्रावकको नहीं होता। अरे वीतराग-मार्गको साधने आया उसके परिणाम तो कितने कोमल होते हैं। पद्मनन्दीस्वामी कहते हैं कि—मेरे निमित्तसे किसी प्राणीको दुःख न हो। किसीको मेरी निन्दासे अथवा मेरे दोष ग्रहण (देखना) करनेसे सन्तोष होता हो तो इस प्रकार भी वह सुखी होवे; किसीको इस देहनाशकी इच्छा हो तो वह यह देह लेकर भी सुखी होवे।—अर्थात् हमारे निमित्तसे किसीको भय न हो; दुःख न हो। अर्थात् हमें किसीके प्रति द्वेष अथवा क्रोध न हो... इस प्रकार स्वयं अपने वीतरागभावमें रहना चाहते हैं। यहाँ तो चारित्रवंत मुनिकी मुख्यतासे बात है, उसमें गौणरूपसे श्रावक भी आ जाता है, क्योंकि श्रावकको भी अपनी भूमिका अनुसार ऐसी ही भावना होती है। सामनेका जीव स्वयं अपने गुण-दोषके कारण अभयपना प्राप्त करे अथवा न करे—यह वस्तु उसके आधीन है, परन्तु यहाँ ज्ञानीको अपने भावमें सब जीवोंको अभय देनेकी वृत्ति है। हमारा कोई शत्रु नहीं, हम किसी के शत्रु नहीं—ऐसी भावनामें ज्ञानीको अनन्तानुबंधी कषायका पूर्ण अभाव है। तत्पश्चात् अन्य राग-द्वेष आदिकी भी बहुत मंदता हो गई है; और श्रावकको तो (पंचम गुणस्थानमें) इससे भी अधिक राग दूर हो गया है, और हिंसादिके परिणाम छूट गये हैं।—इस प्रकार श्रावकके देशव्रतका यह प्रकाशन है।

आत्माका चिदानंदस्वभाव पूर्ण रागरहित है, उसे जिसने श्रद्धामें लिया है

अथवा श्रद्धामें लेना चाहता है ऐसे जीवको रागकी कितनी मंदता हो, देव-गुरु-धर्मकी तरफ परिणाम किस प्रकारके हों, सर्वज्ञकी पहचान कैसी हो—इन सब भेदोंका इस अधिकारमें मुनिराजने बहुत सुन्दर वर्णन किया है। सभामें यह तीसरी वार पढ़ा जा रहा है। महापुण्य हो तभी जैनधर्मका और सत्य श्रवणका ऐसा योग प्राप्त होता है; उसे समझनेके लिये अन्तरमें बहुत पात्रता होनी चाहिए। एक रागका कण भी जिसमें नहीं ऐसे स्वभावका श्रवण करनेमें और उसे समझनेकी पात्रतामें जो जीव आया उसे स्थूल अनीतिका, तीव्र कषायोंका, मांस-मधु आदि अभक्ष्यके भक्षणका तथा कुदेव-कुगुरु-कुमार्गके सेवनका तो त्याग होता ही है; और सच्चे देव-गुरु-शास्त्रका आदर, साधर्मीका प्रेम, परिणामोंकी कोमलता, विषयोंकी मिठासका त्याग, वैराग्यका रंग—ऐसी योग्यता होती है। ऐसी पात्रता बिना ही तत्त्वज्ञान हो जाय-ऐसा नहीं है। भरत चक्रवर्तीके छोटी छोटी उम्रके राजकुमार भी आत्माके भान सहित राजपाटमें थे, उनका अंतरंग जगतसे उदास था। छोटे राजकुमार राजसभामें आकर दो घड़ी बैठते हैं वहाँ भरतजी राज-भंडारमेंसे करोड़ों सोनेकी मोहरें उन्हें देनेको कहते हैं, परन्तु छोटेसे कुमार वैराग्यसे कहते हैं-पिताजी! ये सोनेकी मोहरें राज-भंडारमें ही रहने दो—हमें इनका क्या करना है? हम तो मोक्षलक्ष्मीकी साधनाके लिये आये हैं, पैसा एकत्रित करनेके लिये नहीं। परके साथ हमारे सुखका संबंध नहीं है, परसे निरपेक्ष हमारा सुख हमारी आत्मामें है—ऐसा दादाजी ( ऋषभदेव भगवान )के प्रतापसे हमने समझा है, और इसी सुखको साधना चाहते हैं।-देखो कितना वैराग्य! यह तो पात्रता समझनेके लिये एक उदाहरण दिया। इस प्रकार धर्मकी योग्यता वाले जीवको अन्य सब पदार्थोंकी अपेक्षा आत्मस्वभावका, देव-गुरु-धर्मका विशेष प्रेम होता है, और सम्यक्भान सहित वह रागादिको दूर करता जाता है। उसमें बीच-बीचमें दानके प्रकार, देवपूजा आदि किस प्रकारके होते हैं यह बताया, अब उस दानका फल कहेंगे।



[ १२ ]

# श्रावकको दानका फल

卐

धर्मात्माको शुद्धताके साथ रहनेवाले शुभभावसे ऊँचा पुण्य बँधता है, परन्तु उसकी दृष्टि तो आत्माकी शुद्धताको साधने पर है। जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं करे और मात्र शुभरागसे ही मोक्ष होना मानकर उसमें अटका रहे तो वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, उसे तो श्रावकपना भी सच्चा नहीं होता...सामनेका जीव धर्मकी आराधना कर रहा हो उसे देखकर धर्मीको उसके प्रति प्रमोद आता है क्योंकि उसे स्वयंको आराधनाका तीव्र प्रेम है।

卐

सर्वज्ञकथित वस्तुस्वरूपका निर्णय करके जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, उसके पश्चात् मुनिदशाकी भावना होते हुए भी जो अभी महाव्रत अंगीकार नहीं कर सकता इसलिये श्रावकधर्मरूप देशव्रतका पालन करता है, ऐसे जीवको आहारदान-औषधदान-शास्त्रदान-अभयदान—इन चार प्रकारके दानके भाव आते हैं उसका वर्णन किया। अब दानका फल बतलाते हैं—

आहारात्सुखितौषधादतितरां　निरोगता　जायते
शास्त्रात्पात्र निवेदितात्परभवे पाण्डित्यमत्यद्भुतम् ।
एतत्सर्वगुणप्रभापरिकरः　　पुंसोऽभयात्दानतः
पर्यन्ते　पुनरोन्नतोन्नतपद　प्राप्तिर्विमुक्तिस्ततः ॥ १२ ॥

उत्तम आदि पात्रोंको आहारदान देनेसे परभावमें स्वर्गादि सुखकी प्राप्ति होती है; औषधिदानसे अतिशय निरोगता और सुन्दर रूप मिलता है, शास्त्रदानसे अत्यन्त अद्भुत पाण्डित्य होता है और अभयदानसे जीवको इन सब गुणोंका परिवार प्राप्त होता है; तथा क्रम-क्रमसे ऊँची पदवीको प्राप्त कर वह मोक्ष प्राप्त करता है।

देखो, यह दानका फल। श्रावकधर्मके मूलमें जो सम्यग्दर्शन है उसे लक्ष्यमें रखकर यह बात समझनी है। सम्यक्त्वकी भूमिकामें दानादि शुभभावोंसे ऐसा उत्कृष्ट पुण्य बँधता है कि इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद आदि प्राप्त होते हैं; और उस पुण्यफलमें हेयबुद्धि है इसलिये वह रागको छोड़कर, वीतराग होकर मोक्ष प्राप्त करेगा। इस अपेक्षासे उपचार करके दानके फलसे आराधक जीवको मोक्षकी प्राप्ति कही। परन्तु जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट न करे और मात्र शुभरागसे ही मोक्ष होना मानकर उसमें रुक जावे, वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, उसे तो श्रावकपना भी सच्चा नहीं होता। दानके फल-स्वरूप पुण्यसे स्वर्गके सुख, निरोग-रूपवान शरीर, चक्रवर्तीपदका वैभव आदि मिले उसमें ज्ञानीको कोई सुखबुद्धि नहीं, अन्तरके चैतन्यसुखको प्रतीति और अनुभवमें लिया है, इसके अतिरिक्त अन्य कहीं पर उसे सुख नहीं भासता। दानके फलमें किसीको ऐसी ऋद्धि प्रगट हो कि उसके शरीरके स्नानका पानी छींटते ही अन्यका रोग मिट जावे और मूर्छा दूर हो जावे। शास्त्रदानसे ज्ञानावरणका क्षयोपशम होता है और आश्चर्यकारी बुद्धि प्रगटती है। देखो ना, ग्वालेके भवमें शास्त्रदान देकर ज्ञानका बहुमान किया तो इस भवमें कुन्दकुन्दाचार्यदेवको कैसा श्रुतज्ञान प्रगटा! और कैसी लब्धि प्राप्त हुई! वे तो ज्ञानके अगाध सागर थे; तीर्थंकर भगवानकी साक्षात् दिव्यध्वनि इस पंचम कालमें उन्हें सुननेको मिली। मंगलाचरणके श्लोकमें महावीर भगवान और गौतम गणधरके पीछे मंगलम् कुन्दकुन्दार्यो कहकर तीसरा उनका नाम लिया जाता है। देव गुरु-शास्त्रके अनादरसे जीवको तीव्र पाप बँधता है, और देव-गुरु-शास्त्रके बहुमानसे जीवको ज्ञानादि प्रगट होते हैं। जिस प्रकार अनाजके साथ घास तो सहज ही पकता है, परन्तु चतुर किसान घासके लिये बोनी नहीं करता, उसकी दृष्टि तो अनाज पर है। उसी प्रकार धर्मात्माको शुद्धताके साथ रहनेवाले शुभसे ऊँचा पुण्य बँधता है और चक्रवर्ती आदि ऊँची पदवी सहज ही मिलती हैं, परन्तु उसकी दृष्टि तो आत्माकी शुद्धताके साधन पर है, पुण्य अथवा उसके फलकी वाञ्छा उसे नहीं। जिसे पुण्यके फलकी वाञ्छा है ऐसे मिथ्यादृष्टिको तो ऊँचा पुण्य नहीं बंधता; चक्रवर्ती आदि ऊँची पदवी योग्य पुण्य मिथ्यादर्शनकी भूमिकामें नहीं बँधता। सम्यग्दर्शनरहित जीव मुनिराज आदि उत्तम पात्रको आहारदान दे अथवा अनुमोदना करे तो उसके फलमें वह भोगभूमिमें उत्पन्न होता है, वहाँ असंख्य वर्षकी आयु होती है और दस प्रकारके कल्पवृक्ष उसे पुण्यका फल देते हैं। ऋषभदेव आदि जीवोंने पूर्वमें मुनियोंको आहारदान दिया इससे भोगभूमिमें जन्मे, और वहाँ मुनिके उपदेशसे सम्यग्दर्शन प्राप्त किया था। श्रेयांसकुमारने ऋषभदेव भगवानको आहारदान दिया उसकी महिमा तो प्रसिद्ध है।

इस प्रकारके भक्ति-पूजा-आहारदान आदि शुभभाव श्रावकको होते हैं, ऐसी ही इसकी भूमिका है। वर्तमानमें ही उसने रागको दृष्टिमें तो हेय किया है अर्थात् दृष्टिके बलसे अल्पकालमें ही चारित्र प्रगट कर, रागको सर्वथा दूर कर वह मुक्ति प्राप्त करेगा।

सामनेवाला जीव धर्मकी आराधना कर रहा हो उसे देखकर धर्मीको उसके प्रति प्रमोद, बहुमान और भक्तिका भाव उल्लसित होता है, क्योंकि स्वयंको उस आराधनाका तीव्र प्रेम है। अर्थात् उसके प्रति भक्तिसे (मैं उस पर उपकार करता हूँ ऐसी बुद्धिसे नहीं परन्तु आदरपूर्वक) शास्त्रदान, आहारदान आदिके भाव आते हैं। इस बहाने वह स्वयं अपने रागको घटाता है और आराधनाकी भावनाको पुष्ट करता है। देखो यह तो वीतरागी संतोंने वस्तुस्वरूप प्रगट किया है—वे अत्यन्त निःस्पृह थे, उन्हें कोई परिग्रह नहीं था, उन्हें जगतसे कुछ लेना नहीं था। धर्मी जीव भी निःस्पृह होता है, उसे भी किसीसे लेनेकी इच्छा नहीं। लेनेकी वृत्ति तो पाप है। धर्मी जीव तो दानादि द्वारा राग घटाना चाहता है। किसी धर्मीको विशेष पुण्यसे बहुत वैभव भी हो, उससे उसे अधिक राग है—ऐसा नहीं। रागका माप संयोगसे नहीं। यहाँ तो धर्मकी निचली भूमिकामें (श्रावक-दशामें) धर्म कितना हो, राग कैसा हो और उसका फल क्या हो वह बतलाया है। वहाँ जितनी वीतरागता हुई है उतना धर्म है और उसका फल तो आत्मशांतिका अनुभव है। स्वर्गादि वैभव मिले वह कोई वीतरागभावरूप धर्मका फल नहीं, वह तो रागका फल है। कोई जीव यहाँ ब्रह्मचर्य पाले और स्वर्गमें उसे अनेक देवियाँ मिलें,—तो क्या ब्रह्मचर्यके फलमें देवियाँ मिलीं? नहीं, ब्रह्मचर्यमें जितना राग दूर हुआ और वीतरागभाव हुआ उसका फल तो आत्मामें शान्ति है, परन्तु अभी वह पूर्ण वीतराग नहीं हुआ अर्थात् अनेक प्रकारके शुभ और अशुभ राग बाकी रह गये हैं; अभी धर्मीको जो शुभराग बाकी रह गया है उसके फलमें वह कहाँ जायेगा? क्या नरकादि हल्की गतिमें जावेगा? नहीं, वह तो देवलोकमें ही जावेगा। अर्थात् देवलोककी प्राप्ति रागका फल है, धर्मका नहीं। यहाँ पुण्यका फल बतलाकर कोई उसकी लालच नहीं कराते, परन्तु राग घटानेका उपदेश देते हैं। जिस प्रकार स्त्री, शरीर आदिके लिये अशुभभावसे शक्ति अनुसार खर्च उत्साह-पूर्वक करता है, वहाँ अन्यको यह कहना नहीं पड़ता कि तू इतना खर्च कर। तो जिसे धर्मका प्रेम है वह जीव स्वप्रेरणासे, उत्साहसे देव-गुरु-धर्मकी भक्ति, पात्रदान आदिमें बारम्बार अपनी लक्ष्मीका उपयोग करता है,—इसमें वह किसीके कहनेकी राह नहीं देखता। राग तो अपने लिये घटाना है ना! किसी अन्यके लिये राग नहीं घटाना है। इसलिये धर्मी जीव चतुर्विधदान द्वारा अपने रागको घटावे ऐसा उपदेश है ॥ १२॥

अनेक प्रकारके आरम्भ और पापसे भरे हुए गृहस्थाश्रममें पापसे बचनेके लिये दान मुख्य कार्य है; उसका उपदेश आगेकी छह गाथाओंमें करेंगे।

[ १३ ]

# अनेक प्रकार पापोंसे बचनेके लिये गृहस्थ दान करे

अहा, जिसे सर्वज्ञके धर्मकी महिमा आई है, अन्तर्दृष्टिसे आत्माके धर्मको जो साधता है, महिमापूर्वक वीतरागभावमें जो आगे बढ़ता है, और तीव्र राग घटनेसे जिसे श्रावकपना हुआ है—उस श्रावकके भाव कैसे होते हैं उसकी यह वात है। सर्वार्थसिद्धिके देवकी अपेक्षा जिसकी पदवी ऊँची, और स्वर्गके इन्द्रकी अपेक्षा जिसे आत्मसुख अधिक—ऐसी श्रावकदशा है। वह श्रावक भी हमेशा दान करता है। मात्र लक्ष्मीकी लोलुपतामें, पापभावमें जीवन विता दे और आत्माकी कोई जिज्ञासा न करे—ऐसा जीवन धर्मीका अथवा जिज्ञासुका नहीं होता।

गृहस्थको दानकी प्रधानताका उपदेश देते हैं—

कृत्वाऽकार्यशतानि पापबहुलान्याश्रित्य खेदं परं
भ्रान्त्वा वारिधिमेखलां वसुमतीं दुःखेनयच्चार्जितम् ।
तत्पुत्रादपि जीवितादपि धनं प्रियोऽस्य पन्था शुभो
दानं तेन च दीयतामिदमहो नान्येन तत्सद्गति ॥ १३ ॥

जीवोंको पुत्रकी अपेक्षा और अपने जीवनकी अपेक्षा धन अधिक प्यारा हैं; पापसे भरे हुए सैकड़ों अकार्य करके, समुद्र-पर्वत और पृथ्वीमें भ्रमण करके तथा अनेक प्रकारके कष्टसे महा खेद भोगकर दुःखसे जो धन प्राप्त करता है वह धन, जीवोंको पुत्रकी अपेक्षा और जीवकी अपेक्षा भी अधिक प्यारा है; ऐसे धनका उपयोग करनेका शुभमार्ग एक दान ही है, इसके सिवाय धन खर्च करनेका कोई उत्तम मार्ग नहीं। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि अहो, भव्य जीवो! तुम ऐसा दान करो।

देखो आजकल तो जीवोंको पैसा कमानेके लिये कितना पाप और झूठ करना

पड़ता है। समुद्रपारके देशमें जाकर अनेक प्रकारके अपमान सहन करे, सरकार पैसा ले लेगी ऐसा दिन रात भयभीत रहा करे,—इस प्रकार पैसेके लिये कितना कष्ट सहन करता है और कितने पाप करता है? इसके लिये अपना बहुमूल्य जीवन भी नष्ट कर देता है, पुत्रादिका भी वियोग सहन करता है,—इस प्रकार वह जीवनकी अपेक्षा और पुत्रकी अपेक्षा धनको प्यारा गिनता है।—तो आचार्यदेव कहते हैं कि—भाई, ऐसा प्यारा धन, जिसके लिये तूने कितने पाप किये, उस धनका सच्चा-उत्तम उपयोग क्या? इसका विचार कर। स्त्री-पुत्रके लिये अथवा विषय-भोगोंके लिये तू जितना धन खर्च करेगा, उसमें तो उलटे तुझे पापबन्ध होगा। इसलिये लक्ष्मीकी सच्ची गति यह है कि राग घटाकर देव-गुरु-धर्मकी प्रभावना, पूजा-भक्ति, शास्त्रप्रचार, दान आदि उत्तम कार्योंमें उसका उपयोग कर।

प्रश्नः—बच्चोंके लिये कुछ न रखना?

उत्तरः—भाई, जो तेरा पुत्र सुपुत्र और और पुण्यवंत होगा तो वह तुझसे सवाया धन प्राप्त करेगा; और जो वह पुत्र कुपुत्र होगा तो तेरी इकट्ठी की हुई सब लक्ष्मीको भोग-विलासमें नष्ट कर देगा, और पापमार्गमें उपयोग करके तेरे धनको धूल कर डालेगा;—तो अब तुझे संचय किसके लिये करना है? पुत्रका नाम लेकर तुझे अपने लोभका पोषण करना हो तो जुदी बात है! अन्यथा—

पूत सपूत तो क्यों धन संचय?
पूत कपूत तो क्यों धन संचय?

इसलिये, लोभादि पापके कुँएसे तेरी आत्माका रक्षण हो ऐसा कर: लक्ष्मीके रक्षणकी ममता छोड़ और दानादि द्वारा तेरी तृष्णाको घटा। वीतरागी सन्तोंको तो तेरे पाससे कुछ नहीं चाहिये। परन्तु जिसे पूर्ण राग रहित स्वभावकी रुचि उत्पन्न हुई है, वीतरागस्वभावकी तरफ जिसका परिणमन लगा उसको राग घटे बिना नहीं रहता। कोईके कहनेसे नहीं परन्तु अपने सहज परिणामसे ही मुमुक्षुको राग घट जाता है।

इस संबंधमें धर्मी गृहस्थको कैसे विचार होते हैं? समन्तभद्रस्वामी रत्नकरंड-श्रावकाचारमें कहते हैं कि—

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्॥ २७॥

जो पापका आस्रव मुझे रुक गया है तो मुझे मेरे स्वरूपकी सम्पदा प्राप्त होगी, वहाँ अन्य सम्पदाका मुझे क्या काम? और जो मुझे पापका आस्रव हो रहा है तो ऐसी सम्पदासे मुझे क्या लाभ है? जिस सम्पदाको मिलनेसे पाप बढ़ता हो और स्वरूपकी सम्पदा लुटती हो ऐसी सम्पदा किस काम की?—इस प्रकार दोनों तरहसे सम्पदाका असारपना जानकर धर्मी उसका मोह छोड़ता है। जो मात्र लक्ष्मीकी लोलुपताके पापभावमें जीवन बिता दे और आत्माकी कोई जिज्ञासा न करे ऐसा जीवन धर्मीका अथवा जिज्ञासुका नहीं होता। अहा, जिसे सर्वज्ञकी महिमा आयी है, अन्तर्दृष्टिसे आत्माके स्वभावको जो साधते हैं, महिमापूर्वक वीतरागमार्गमें जो आगे बढ़ते हैं, और तीव्र राग घटनेसे जिन्हें श्रावकपना प्रगट हुआ है—ऐसे श्रावकके भाव कैसे हों उसकी यह बात है। सर्वार्थसिद्धिके देवकी अपेक्षा जिसकी पदवी ऊँची है, स्वर्गके इन्द्रकी अपेक्षा जिसका आत्मसुख अधिक है-ऐसी श्रावकदशा है। स्वभावके सामर्थ्यका जिसे भान है, विभावकी विपरीतता समझता है और परको पृथक् देखता है, ऐसा श्रावक रागके त्याग द्वारा अपनेमें क्षण-क्षण शुद्धताका दान करता है और बाहरमें अन्यको भी रत्नत्रयके निमित्तरूप शास्त्र आदिका दान करता है।

ऐसा मनुष्य-भव प्राप्त कर, आत्माकी जिज्ञासा कर उसके ज्ञानकी कीमत आनी चाहिये, श्रावकको स्वाध्याय, दान आदि शुभभाव विशेषरूपसे होते हैं। जिसे ज्ञानका रस हो, प्रेम हो, वह हमेशा स्वाध्याय करे; नये-नये शास्त्रोंके स्वाध्याय करनेसे ज्ञानकी निर्मलता बढ़ती जाती है, उसे नये-नये वीतरागभाव प्रगट होते जाते हैं। अपूर्व तत्त्वके श्रवण और स्वाध्याय करनेसे उसे ऐसा लगता है कि अहो, आज मेरा दिन सफल हुआ। छह प्रकारके अन्तरंग तपोंमें ध्यानके पश्चात् दूसरा नंबर स्वाध्यायका कहा है।

श्रावकको सब पक्षोंका विवेक होता है। स्वाध्याय आदिकी तरह देवपूजा आदि कार्योंमें भी वह भक्तिसे वर्तता है। श्रावकको भगवान् सर्वज्ञदेवके प्रति परम प्रीति हो... अहो, यह तो इष्ट ध्येय है! इस प्रकार जीवनमें वह भगवानको ही इच्छता है। चलते-फिरते प्रत्येक प्रसंगमें उसे भगवान याद आते हैं। वह नदीके झरनेकी कल-कल आवाज सुनकर कहता है कि हे प्रभो! आपने पृथ्वीका त्याग कर दीक्षा ली इससे अनाथ हुई यह पृथ्वी कलरव करती विलाप करती है और उसके आँसुओंका यह प्रवाह है। वह आकाशमें सूर्य-चन्द्रको देखकर कहता है कि प्रभो! आपने शुक्ल-ध्यान द्वारा घातिया कर्मोंको जब भस्म किया तब उसके स्फुलिंग आकाशमें उड़े, वे स्फुलिंग ही ये सूर्य-चन्द्र रूपमें उड़ते दिखाई दे रहे हैं।—और ध्यान-अग्निमें भस्म होकर उड़ते हुए कर्मके समूह बादलोंके रूपमें अभी भी जहाँ-तहाँ घूम रहे हैं।—ऐसी उपमाओं द्वारा श्रावक भगवानके

शुक्ल-ध्यानको याद करता है और स्वयं भी उसकी भावना भाता है। ध्यानको अग्नि, और वैराग्यकी हवा उससे अग्नि प्रज्वलित होकर कर्म भस्म हो गये, उसमें सूर्य-चन्द्ररूपी स्फुलिंग उड़े। ध्यानस्थ भगवानके बाल हवामें फर-फर उड़ते देखकर कहता है कि, ये बाल नहीं, ये तो भगवानके अन्तरमें ध्यान द्वारा जो कर्म जल रहे हैं उनका धुआँ उड़ रहा है।—इस प्रकार सर्वज्ञदेवको पहचानकर उनकी भक्तिका रंग लगाया है। उसके साथ गुरुकी उपासना, शास्त्रका स्वाध्याय आदि भी होता है। शास्त्र तो कहते हैं कि अरे, कान द्वारा जिसने वीतरागी सिद्धान्तका श्रवण नहीं किया और मनमें उसका चिंतवन नहीं किया, उसे कान और मन मिलना न मिलनेके बराबर ही हैं। आत्माकी जिज्ञासा नहीं करे तो कान और मन दोनों गुमाकर एकेन्द्रियमें चला जायगा। कानकी सफलता इसमें है कि धर्मका श्रवण करे, मनकी सफलता इसमें है कि आत्मिक गुणोंका चिंतवन करे, और धनकी सफलता इसमें है कि सत्पात्रके दानमें उसका उपयोग हो। भाई, अनेक प्रकारके पाप करके तूने धन इकट्ठा किया, तो अब परिणामोंको पलटकर उसका ऐसा उपयोग कर कि जिससे तेरे पाप धुलें और तुझे उत्तम पुण्य बँधे।—इसका उपयोग तो धर्मके बहुमानपूर्वक सत्पात्रदान करना ही है।

लोगोंको जीवनसे और पुत्रसे भी यह धन प्यारा होता है। परन्तु धर्मी-श्रावकको धनकी अपेक्षा धर्म प्यारा है। इसलिये धर्मके लिये धन खर्चनेमें उसे उल्लास आता है। इसलिये श्रावकके घरमें अनेक प्रकार दानके कार्य निरन्तर चला करते हैं। धर्म और दानरहित घरको तो स्मशानतुल्य गिनकर कहते हैं कि ऐसे गृहवासको तो गहरे पानीमें जाकर 'स्वा...हा' कर देना। जो एकमात्र पाप-बन्धका ही कारण हो ऐसे गृहवासको तू तिलांजलि देना, पानीमें डुबो देना। अरे, वीतरागी सन्त इस दानका गुँजार शब्द करते हैं.. उसे सुनकर क्या भव्य जीवोंके हृदयकमल न खिल उठें? किसे उत्साह नहीं आवे? भ्रमरके गुँजार शब्दसे और चन्द्रमाके उदयसे कमलकी कली तो खिल उठती है, पत्थर नहीं खिलता है; उसी प्रकार इस उपदेशरूपी गुँजार शब्दको सुनकर धर्मकी रुचिवाले जीवका हृदय तो खिल उठता है...कि वाह! देव-गुरु-धर्मकी सेवाका अवसर आया... मेरा धन्य भाग्य...कि मुझे देव-गुरुका काम मिला। इस प्रकार उल्लसित होता है। शास्त्रमें कहते हैं कि शक्ति-प्रमाण दान करना। तेरे पास एक रुपयेकी पूंजी हो तो उसमें-से एक पैसा दान करना...परन्तु दान अवश्य करना, लोभ घटानेका अभ्यास अवश्य करना। लाखों-करोड़ोंकी पूँजी हो तभी दान दिया जा सके और ओछी पूंजी हो उसमें दान नहीं दिया जा सके—ऐसा कोई नहीं है। स्वयंके लोभ घटानेकी बात है, इसमें कोई

पूँजीकी मात्रा देखना नहीं है। उत्तम श्रावक कमाईका चौथा भाग धर्ममें खर्च करे, मध्यमपने छट्ठा भाग खर्च करे और कमसे कम दसमांश खर्च करे—ऐसा उपदेश है। चन्द्रकान्त-मणिकी सफलता कब? कि चन्द्रमाके संयोगसे इसमें पानी झरने लगे तब; उसी प्रकार लक्ष्मीकी सफलता कब? कि सत्पात्रके प्रति वह दानमें खर्च हो तब। धर्मीको ऐसा भाव होता ही है; परन्तु उदाहरणसे अन्य जीवोंको समझाते हैं।

संसारमें लोभी जीव धनप्राप्तिके लिये कैसे-कैसे पाप करते हैं। लक्ष्मी तो पुण्यानुसार मिलती है परन्तु उसकी प्राप्तिके लिये बहुतसे जीव झूठ-चोरी आदि अनेक प्रकारके पापभाव करते हैं। कदाचित् कोई जीव ऐसे भाव न करे और प्रमाणिकतासे व्यापार करे तो भी लक्ष्मी प्राप्त करनेका भाव तो पाप ही है। यह बतलाकर यहाँ ऐसा कहते हैं कि भाई, जिस लक्ष्मीके लिये तूँ इतने इतने पाप करता है और जो लक्ष्मी पुत्रादिकी अपेक्षा भी तुझे अधिक प्यारी है, उस लक्ष्मीका उत्तम उपयोग यही है कि सत्पात्रदान आदि धर्म कार्योंमें उसे खर्च; सत्पात्रदानमें खर्ची गई लक्ष्मी असंख्यगुणी होकर फलेगी। एक आदमी चार-पाँच हजार रुपयेके नये नोट लाया और घर आकर स्त्रीको दिये, उस स्त्रीने उन्हें चूलेके पास रख दिया और अन्य कामसे जरा दूर चली गई। उसका छोटा लड़का पीछे सिगड़ीके पास बैठा था; सर्दीके दिन थे, लड़केने नोटकी गड्डी उठाकर सिगड़ीमें डाल दी और अग्नि भड़क गई और वह तापने लगा...इतनेमें माँ आई, लड़का कहने लगा—माँ देख...मैंने सिगड़ी कैसी कर दी! देखते ही माँ समझ गई कि अरे, इसने तो पाँच हजार रुपयोंकी राख कर दी! उसे ऐसा क्रोध चढ़ा कि उसने लड़केको इतना अधिक मारा कि लड़का मर गया! देखो, पुत्रकी अपेक्षा धन कितना प्यारा है!!

दूसरी एक घटना—एक ग्वालिन दूध बेचकर उसके तीन रुपये लेकर अपने गाँव जा रही थी, अकालके दिन थे, रास्तेमें लुटेरे मिले। बाईको डर लगा कि ये लोग मेरे रुपये छीन लेंगे, इसलिये वह तीन रुपये—कल्दार पेटमें निगल गई। परन्तु लुटेरोंने वह देख लिया और बाईको मारकर उसके पेटमेंसे रुपये निकाल लिये। देखो, यह क्रूरता! ऐसे जीव दौड़कर नरकमें न जावें तो अन्य कहाँ जावें? ऐसे तीव्र पापके परिणाम तो जिज्ञासुको नहीं होते। बहुतसे लोगोंको तो लक्ष्मी कमानेकी धुनमें अच्छी तरह खानेका समय भी नहीं मिलता, देश छोड़कर अनार्यकी तरह परदेशमें जाता है, जहाँ भगवानके दर्शन भी न मिलें, सत्संग भी न मिले, अरे भाई! जिसके लिये तूने इतना किया उस लक्ष्मीका कुछ तो सदुपयोग कर। पचास-साठ वर्ष संसारकी मजदूरी कर-करके मरने बैठा हो, मरते-मरते अन्त घड़ीमें बच जाय और खटियामेंसे उठे तो भी और वहीके

वही पापकार्यमें संलग्न हो जाय, परन्तु ऐसा नहीं विचारता कि अरे, समस्त जिन्दगी धन कमानेमें गवाँ दी और मुफ्तमें पाप बाँधा, फिर यह धन तो कोई साथ चलनेका नहीं है, इसलिये अपने हाथसे ही राग घटाकर इसका कोई सदुपयोग करूँ; और जीवनमें आत्माका कुछ हित हो ऐसा उद्यम करूँ। देव-गुरु-धर्मका उत्साह, सत्पात्रदान, तीर्थयात्रा आदिमें राग घटाकर लक्ष्मीका उपयोग करेगा तो भी तुझे अन्तरंगमें ऐसा सन्तोष होगा कि आत्माके हितके लिये मैंने कुछ किया है। अन्यथा मात्र पापमें ही जीवन बिताया तो तेरी लक्ष्मी भी निष्फल जायेगी और मरण समय तू पछतावेगा कि अरे, जीवनमें आत्महितके लिये कुछ नहीं किया; और अशान्तरूपसे देह छोड़कर कौन जाने कहाँ जाकर पैदा होगा? इसलिये हे भाई! छठवेंसे सातवें गुणस्थानमें झूलते मुनिराजने करुणा करके तेरे हितके लिये इस श्रावकधर्मका उपदेश दिया है। तेरे पास चाहे जितना धनका समूह हो,—परन्तु उसमेंसे तेरा कितना? तू दानमें खर्च करे उतना तेरा। राग घटाकर दानादि सत्कार्यमें खर्च हो उतना ही धन सफल है। बारम्बार सत्पात्रदानके प्रसंगसे, मुनिवरों—धर्मात्माओं आदिके प्रति बहुमान, विनय, भक्तिसे तुझे धर्मके संस्कार बने रहेंगे, और ये संस्कार परभवमें भी साथ चलेंगे।—लक्ष्मी कोई परभवमें साथ नहीं चलती। इसलिये कहते हैं कि संसारके कार्योंमें (विवाह, भोगोपभोग आदिमें) तू लोभ करता हो तो भले कर, परन्तु धर्मकार्योंमें तू लोभ मत कर; वहाँ तो उत्साहपूर्वक वर्तन करना। जो अपनेको धर्मी-श्रावक कहलवाता है परन्तु धर्म-प्रसंगमें उत्साह तो आता नहीं, धर्मके लिये धन आदिका लोभ भी घटा नहीं सकता, तो आचार्यदेव कहते हैं कि वह वास्तवमें धर्मी नहीं परन्तु दंभी है, धर्मीपनेका वह सिर्फ दंभ करता है। धर्मका जिसे वास्तवमें रंग लगा हो उसे तो धर्म-प्रसंगमें उत्साह आवे ही; और धर्मके निमित्तोंमें जितना धन खर्च हो उतना सफल है—ऐसा समझकर दान आदिमें वह उत्साहसे वर्तता है।

—इस प्रकार दानकी बात की; यही बात अब विशेष प्रकारसे कहते हैं।



[ १४ ]

# गृहस्थपना दानसे ही शोभता है

धर्मकी प्रभावना आदिके लिये दान करनेका प्रसंग आये वहाँ धर्मके प्रेमी जीवका हृदय झनझनाता हुआ उदारतासे उछल जाता है कि–अहो, ऐसे उत्तम कार्यके लिये जितना धन खर्च किया जावे उतना सफल है। जो धन अपने हितके लिये काम न आवे और बन्धनका ही कारण हो–वह धन किस कामका?–ऐसे धनसे धनवानपना कौन कहे? सच्चा धनवान तो वह है कि जो उदारतापूर्वक धर्मकार्योंमें अपनी लक्ष्मी खर्च करता है।

श्रावकके हमेशाके जो छह कर्तव्य हैं उनमेंसे दानका यह वर्णन चल रहा है—

दानेनैव गृहस्थता गुणवती लोकद्वयोद्योतिका
नैव स्यान्ननु तद्विना धनवतो लोकद्वयध्वंसकृत्।
दुर्व्यापारशतेषु सत्सु गृहिणः पापं यदुत्पद्यते
तन्नाशाय शशांकशुभ्रयशसे दानं न चान्यत्परम् ॥ १४ ॥

धनवान मनुष्योंका गृहस्थपना दान द्वारा ही लाभदायक है, तथा दान द्वारा ही इस लोक और परलोक दोनोंका उद्योत होता है; दानरहित गृहस्थपना तो दोनों लोकोंका ध्वंस करनेवाला है। गृहस्थको सैकड़ों प्रकारके दुर्व्यापारसे जो पाप होता है उसका नाश दान द्वारा ही होता है और दान द्वारा चन्द्र समान उज्ज्वल यश प्राप्त होता है। इस प्रकार पापका नाश और यशकी प्राप्तिके लिये गृहस्थको सत्पात्रदानके समान अन्य कुछ नहीं। इसलिये अपना हित चाहनेवाले गृहस्थोंको दान द्वारा गृहस्थपना सफल करना चाहिये।

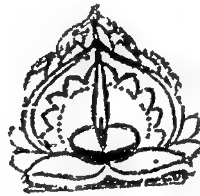
देव-गुरु-शास्त्रकी तरफके उल्लासके द्वारा संसारकी ओरका उल्लास कम होता है तब वहाँ दानादिके शुभभाव आते हैं, इसलिये गृहस्थको पाप घटाकर शुभभाव करना

चाहिये-ऐसा उपदेश है। तू शुभभाव कर ऐसा उपदेश व्यवहारमें होता है; परमार्थसे तो रागका कर्तृत्व आत्माके स्वभावमें नहीं है। रागके कणका भी कर्तृत्व माने अथवा उसे मोक्षमार्ग माने तो मिथ्यादृष्टि है ऐसा शुद्धदृष्टिके वर्णनमें आता है; ऐसी दृष्टिपूर्वक रागकी बहुत मंदता धर्मीको होती है। रागरहित स्वभाव दृष्टिमें ले और राग घटे नहीं ऐसा कैसे बने? यहाँ कहते हैं कि जिसे दानादि शुभभावका भी पता नहीं, मात्र पापभावमें ही पड़ा है उसकी तो इस लोकमें भी शोभा नहीं और परलोकमें भी उसे उत्तम गति नहीं मिलती। पापसे बचनेके लिये पात्रदान ही उत्तम मार्ग है। मुनिवरोंको तो परिग्रह ही नहीं, उनको तो अशुभ परिणति छूट गई है और बहुत आत्मरमणता वर्तती है—उनकी तो क्या बात! यहाँ तो गृहस्थके लिये उपदेश है। जिसमें अनेक प्रकारके पापके प्रसंग हैं ऐसे गृहस्थपनेमें पापसे बचनेके लिये पूजा-दान-स्वाध्याय आदि कर्तव्य हैं। तीव्र लोभी प्राणीको सम्बोधन करके कार्तिकेयस्वामी तो कहते हैं कि अरे जीव! यह लक्ष्मी चंचल है, इसकी ममता तू छोड़। तू तीव्र लोभसे अन्यके लिये (देव-गुरु-शास्त्रके शुभ कार्योंमें) तो लक्ष्मी नहीं खर्चता, परन्तु देहके लिये तो खर्च! इतनी तो ममता घटा।—इस प्रकार भी लक्ष्मीकी ममता घटाना सीखेगा तो कभी शुभ कार्योंमें भी लोभ घटानेका प्रसंग आवेगा। यहाँ तो धर्मके निमित्तोंके प्रति उल्लासभावसे जो दानादि होता है उसकी ही मुख्य बात है। जिसे धर्मका लक्ष नहीं और कुछ मंद रागसे दानादि करे तो साधारण पुण्य बँधता है, परन्तु यहाँ तो धर्मके लक्ष्य सहितके पुण्यकी मुख्यता है, अर्थात् अधिकारके प्रारम्भमें ही अरहन्तदेवकी पहचान की है। शास्त्रमें तो जिस समय जो प्रकरण चलता हो उस समय उसका ही विस्तारसे वर्णन होता है, ब्रह्मचर्यके समय ब्रह्मचर्यका वर्णन होता है, और दानके समय दानका वर्णन होता है; मूलभूत सिद्धान्त लक्ष्यमें रखकर प्रत्येक कथनका भाव समझना चाहिये।

लोगोंमें तो जिसके पास अधिक धन हो उसे लोग धनवान कहते हैं, परन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि जो लोभी है उसके पास चाहे जितना धन पड़ा हो तो भी वह धनवान नहीं परन्तु रंक है, क्योंकि जो धन उदारतापूर्वक सत्कार्यमें खर्च करनेके काम न आवे, अपने हितके लिये काम न आवे मात्र पापबन्धका ही कारण हो वह धन किस कामका? और ऐसे धनसे धनवानपना कौन माने? सच्चा धनवान तो वह है कि जो उदारतापूर्वक अपनी लक्ष्मीको दानमें खर्च करता हो। भले लक्ष्मी थोड़ी हो परन्तु जिसका हृदय उदार है वह धनवान है। और लक्ष्मीका ढेर होते हुए भी जिसका हृदय ओछा है—कंजूस है वह दरिद्री है। एक कहावत है कि—

रण चढ़ा रजपूत छुपे नहीं...
दाता छुपे नहीं घर माँगन आये...

जैसे युद्धमें तलवार चलानेका प्रसंग आवे वहाँ रजपूतकी शूरवीरता छिपी नहीं रहती, वह घरके कोनेमें चुपचाप नहीं बैठता, उसका शौर्य उछल जाता है, उसी प्रकार जहाँ दानका प्रसंग आता है वहाँ उदार हृदयके मनुष्यका हृदय छिपा नहीं रहता; धर्मके प्रसंगमें प्रभावना आदिके लिये दान करनेका प्रसंग आवे वहाँ धर्मके प्रेमी जीवका हृदय झनझनाहट करता उदारतासे उछल जाता है; वह बचनेका बहाना नहीं ढूँढ़ता, अथवा उसे वार-वार कहना नहीं पड़ता परन्तु अपने उत्साहसे ही दान आदि करता है कि अहो, ऐसे उत्तम कार्यके लिये जितना दान करूँ उतना कम है। मेरी जो लक्ष्मी ऐसे कार्यमें खर्च हो वह सफल है। इस प्रकार श्रावक दान द्वारा अपने गृहस्थपनेको शोभित करता है। शास्त्रकार अब इस बातका विशेष उपदेश देते हैं।



संसारमें जब हजारों प्रकारकी प्रतिकूलता एक साथ आ पड़े कहीं मार्ग न सूझे, उस समय उपाय क्या? उपाय एक ही कि—धैर्य पूर्वक ज्ञानभावना भाना।

ज्ञानभावना क्षणमात्रमें सब प्रकारकी उदासीको नष्ट कर हितमार्ग सुझाती है, शान्ति देती है, कोई अलौकिक धैर्य और अचिंत्य शक्ति देती है।

गृहस्थ श्रावकको भी "ज्ञानभावना" होती है।

[ १५ ]

# पात्रदानमें उपयोग हो वही सच्चा धन है

卐

देव–गुरु–धर्मके प्रसंगमें बारम्बार दान करनेसे धर्मका संस्कार ताजा रहा करता है और धर्मकी रुचिका बारम्बार घोलन होनेसे आगे बढ़नेका कारण होता है...जो जीव पापकार्यमें तो उत्साहसे धन खर्च करता है और धर्मकार्योंमें कंजूसी करता है उसे धर्मका सच्चा प्रेम नहीं, धर्मके प्रेमवाला गृहस्थ संसारकी अपेक्षा विशेष उत्साहसे धर्म-कार्योंमें वर्तता है।

卐

गृहस्थका जो धन पात्रदानमें खर्च हो वही सफल है—ऐसा कहकर दानकी प्रेरणा देते हैं—

पात्राणामुपयोगी यत्किल धनं तद्धीमतां मन्यते
येनानन्तगुणं परत्र सुखदं व्यावर्तते तत्पुनः ।
यद्भोगाय गतं पुनर्धनवतः तन्नष्टमेव ध्रुवं
सर्वासामिति सम्पदां गृहवतां दानं प्रधानं फलम् ॥

जो धन सत्पात्र-दानके उपयोगमें आता है उस धनको ही बुद्धिमान वास्तवमें धन समझते हैं, क्योंकि सत्पात्रमें खर्च किया हुआ धन परलोकमें अनन्तगुना हो करके सुख देवेगा। परन्तु जो धन भोगादि पापकार्योंमें खर्च होता है वह तो सहीरूपमें नष्ट हो जाता है। इस प्रकार पात्रदान गृहस्थको समस्त सम्पदाका उत्तम फल है ऐसा समझना।

देखो, ऐसा समझे उसके पापपरिणाम कितने कम हो जावें! और पुण्यपरिणाम कितने बढ़ जावें! और फिर भी धर्म तो इनसे भी भिन्न तीसरी ही वस्तु है। भाई, पाप और पुण्यके बीचमें विवेक कर, कि संसारके भोगादिके लिये करूँ वह तो पापबन्धका

कारण है; और धर्म-प्रसंगमें, धर्मात्माके बहुमान आदिके लिये जो करूँ वह पुण्यका कारण है, और उसके फलस्वरूप परलोकमें ऐसी सम्पदा मिलेगी। परन्तु धर्मात्मा तो इस सम्पदाको भी छोड़कर, मुनि होकर, रागरहित ऐसे केवलज्ञानको साधकर मोक्ष प्राप्त करेगा। इस प्रकार तीनोंका विवेक करके धर्मी जीव जहाँ तक मुनिदशा न हो सके वहाँ तक गृहस्थ अवस्थामें पापसे बचकर दानादि शुभकार्योंमें प्रवर्तता है।

श्री पद्मनन्दीस्वामीने दानका विशेष रूपसे अलग अधिकारमें वर्णन किया है। (उस पर भी अनेकबार प्रवचन हो गये हैं) भाई! स्त्री आदिके लिये तू जो धन खर्च करता है वह तो व्यर्थ है, पुत्र-पुत्रीके लग्न आदिमें पागल होकर धन खर्च करता है वह तो व्यर्थ ही नहीं परन्तु उलटे पापका कारण है। उसके बदले हे भाई! जिन-मंदिरके लिये, वीतरागी शास्त्रोंके लिये तथा धर्मात्मा-श्रावक-साधर्मी आदि सुपात्रोंके लिये जो तेरी लक्ष्मी खर्च हो वह धन्य है। लक्ष्मी तो एक जड़ है, परन्तु उसके दानका जो भाव है वह धन्य है ऐसा समझना, क्योंकि सत्‌कार्यमें जो लक्ष्मी खर्च हुई उसका फल अनन्तगुना आवेगा। इसकी दृष्टिमें धर्मकी प्रभावनाका भाव है अर्थात् आराधकभावसे पुण्यका रस अनन्तगुना बढ़ जाता है। नव प्रकारके देव कहे हैं—पंच परमेष्ठी, जिनमंदिर, जिनबिम्ब, जिनवाणी और जिनधर्म,—इन नव प्रकारके देवोंके प्रति धर्मीको भक्तिका उल्लास आता है। जो जीव पापकार्योंमें तो धन उत्साहसे खर्च करता है और धर्मकार्योंमें कंजूसी करता है, तो उस जीवको धर्मका सच्चा प्रेम नहीं; धर्मकी अपेक्षा संसारका प्रेम उसे अधिक है। धर्मका प्रेमवाला गृहस्थ अपनी लक्ष्मी संसारकी अपेक्षा अधिक उत्साहसे धर्मकार्योंमें खर्च करता है।

अरे, चैतन्यको साधनेके लिये जहाँ सर्वसंगपरित्यागी मुनि होनेकी भावना हो, वहाँ लक्ष्मीका मोह न घटे यह कैसे बने? लक्ष्मीमें, भोगोंमें अथवा शरीरमें धर्मीको सुखबुद्धि नहीं होती। आत्मीयसुख जिसने देखा है अर्थात् विशेष सुखोंकी तृष्णा जिसे नष्ट हो गई है।—जिसमें सुख नहीं उसकी भावना कौन करे? इस प्रकार धर्मात्माके परिणाम अत्यन्त कोमल होते हैं, तीव्र पापभाव उसे नहीं होते। लोभियोंके हेतु कौवेका उदाहरण शास्त्रकारने दिया है। जली हुई रसोईकी खुरचन मिले वहाँ कौवा काँव-काँव करता रहता है, वहाँ अलंकारसे आचार्य बताते हैं कि अरे यह कौवा भी काँव-काँव करता हुआ अन्य कौवोंको इकट्ठा करके खाता है, और तू? राग द्वारा तेरे गुण जले तब पुण्य बँधा और उसके फलमें यह लक्ष्मी मिली, इस तेरे गुणके जले हुए खुरचनको जो तू अकेला-अकेला खावे और साधर्मी-प्रेम वगैरहमें उसका उपयोग न करे तो क्या कौवेसे भी तू

गया-बीता हो गया? अतः हे भाई, पात्रदानकी महिमा जानकर तू तेरी लक्ष्मीका सदुपयोग कर।

प्रद्युम्नकुमारने पूर्वभवमें औषधिदान किया था, उससे कामदेव जैसा रूप तथा अनेक ऋद्धियाँ मिली थीं; लक्ष्मणकी पटरानी विशल्यादेवीने पूर्वभवमें एक अजगरको करुणाभावसे अभयदान किया उससे ऐसी ऋद्धि मिली थी कि उसके स्नानके पानीसे लक्ष्मण आदिकी मूर्च्छा उतर गई। वज्रजंघ और श्रीमतीकी बात भी प्रसिद्ध है; वे आहारदानसे भोगभूमिमें उत्पन्न हुए और वहाँ मुनिराजके उपदेशसे उन्होंने सम्यग्दर्शन पाया था; उनके आहारदानमें अनुमोदन करनेवाले चारों जीव (सिंह, बन्दर, नेवला और सूवर) भी भोगभूमिमें उनके साथ ही जन्मे और सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सके। सम्यग्दर्शन हुआ इसलिये पूर्वके रागको परम्परा कारण भी कहनेमें आता है, ऐसी उपचारकी पद्धति है। देव-गुरु-धर्मके प्रसंगमें बारम्बार दान करनेसे तेरे धर्मके संस्कार ताजे रहा करेंगे, और धर्मकी रुचिका बारम्बार चिन्तन होनेसे तुझे आगे बढ़नेका कारण बनेगा।

धर्मके प्रेम सहित दानादिका जो भाव हुआ वह पूर्वमें अनन्तकालमें नहीं हुआ इसलिये अपूर्व है, और उसके फलमें जो शरीर आदि मिलेंगे वे भी अपूर्व हैं; क्योंकि आराधकभाव सहित पुण्य जिसमें निमित्त हो ऐसा शरीर भी पहले अज्ञानदशामें कभी नहीं मिला था। जीवके भावोंमें अपूर्वता होनेपर संयोगोंमें भी अपूर्वता हो गई। सत्-पात्रदानके प्रसंगसे अन्तरमें स्वयंकी धर्मकी प्रीति पुष्ट होती है उसकी मुख्यता है; उसके साथका राग और पुण्य भी भिन्न प्रकारका होता है।—इस प्रकार दानका उत्तम फल जानना।



# [ १६ ]

# पुण्यफलको छोड़कर धर्मीजीव मोक्षको साधता है

卐

प्रभो ! दिव्यध्वनि द्वारा आपने आत्माके अचिन्त्य निधानको स्पष्टरूपसे बतलाया, तो अब इस जगतमें ऐसा कौन है जो इसके खातिर राजपाटके निधानको तृणसम समझकर न छोड़े ?—और चैतन्यनिधानको न साधे ? अहा, चैतन्यके आनन्दनिधानको जिसने देखा उसे रागके फलरूप बाह्य-वैभव तो तृणतुल्य लगता है।

卐

पुत्रे राज्यमशेषमर्थिषु धनं दत्त्वाऽभयं प्राणिषु ।
प्राप्ता नित्यसुखास्पदं सुतपसा मोक्षं पुरा पार्थिवाः
मोक्षस्यापि भवेत्ततः प्रथमतो दानं निधानं बुधैः
शक्त्या देयमिदं सदातिचपले द्रव्ये तथा जीविते ॥ १६ ॥

यह जीवन और धन दोनों अत्यंत क्षणभंगुर हैं—ऐसा जानकर चतुर पुरुषोंको सदा शक्ति अनुसार दान करना चाहिये, क्योंकि मोक्षका प्रथम कारण दान है। पूर्वमें अनेक राजाओंने याचक जनोंको धन देकर, सब प्राणियोंको अभय देकर और समस्त राज्य पुत्रको देकर सम्यक्तप द्वारा नित्य सुखास्पद मोक्ष पाया।

देखिये, यहाँ ऐसा बतलाते हैं कि दानके फलमें धर्मी जीवको राज्य-सम्पदा वगैरह मिले उसमें वह सुख मानकर मूर्च्छित नहीं होता, परन्तु दानादि द्वारा उसका त्याग करके मुनि होकर मोक्षको साधने चला जाता है।

जिस प्रकार चतुर किसान बीजकी रक्षा करके बाकीका अनाज भोगता है, और बीज बोता है उसके हजारोंगुने दाने पकते हैं, उसीप्रकार धर्मीजीव पुण्यफलरूप लक्ष्मी वगैरह वैभवका उपभोग धर्मकी रक्षापूर्वक करता है, और दानादि सत्कार्योंमें लगाता है,—जिससे उसका फल बढ़ता जाता है और भविष्यमें तीर्थंकरदेवका समवसरण तथा

गणधरादि संत-धर्मात्माओंका योग वगैरह धर्मके उत्तम निमित्त मिलते हैं, वहाँ आत्मस्वरूपको साधकर, बाह्यपरिग्रह छोड़कर, मुनि होकर, केवलज्ञानरूप अनन्त आत्मवैभवको प्राप्त करता है।

पुण्यके निषेधकी भूमिकामें (अर्थात् वीतरागभावको साधते-साधते) ज्ञानीको अनन्तगुना पुण्य बँधता है। पुण्यकी रुचिवाले अज्ञानीको जो पुण्य बँधे उससे पुण्यका निषेध करनेवाले ज्ञानीकी भूमिकामें जो पुण्य बँधे वह अलौकिक होता है;—जिससे तीर्थंकर-पद मिले, चक्रवर्ती-पद मिले, बलदेव-पद मिले ऐसा पुण्य आराधक जीवको ही होता है, रागकी रुचिवाले विराधकको ऐसा पुण्य नहीं बँधता। और उस पुण्यका फल आये तब भी ज्ञानी उन संयोगोंको अध्रुव—क्षणभंगुर बिजली जैसे चपल जानकर उनका त्याग करता है, और ध्रुव ऐसे सुखधाम आत्माको साधने हेतु सर्वसंगत्यागी मुनि होता है और मोक्षको साधता है। पहलेसे ही दानकी भावना द्वारा राग घटाया था उससे आगे बढ़ते-बढ़ते सर्वसंग छोड़कर मुनि होता है। परन्तु पहलेसे ही गृहस्थपनेमें दानादि द्वारा थोड़ा भी राग घटाते जिससे नहीं बनता, रागरहित स्वभाव क्या है? वह लक्ष्यमें भी नहीं लेता, वह सर्व रागको छोड़कर मुनिपना कहाँसे लेगा?—इस अपेक्षासे मोक्षका प्रथम कारण दान कहा गया है।

ज्ञानी जानता है कि, एक तो लक्ष्मी इत्यादि बाह्यसंयोगमें मेरा सुख जरा भी नहीं; फिर संयोग क्षणभंगुर हैं, और उसका आना-जाना तो पूर्वके पुण्य-पापके आधीन है। पुण्य हो तो, दानमें खर्च करनेसे लक्ष्मी समाप्त नहीं होती; और पुण्य समाप्त हो तो लाख उपाय द्वारा भी वह नहीं रहती।—ऐसा जानते हुए वह महापुरुष धन वगैरह छोड़कर मुनि होता है; और सर्व परिग्रह छोड़कर मुनिपना न लेते बने तब तक उसका उपयोग दानादिमें करता है। इस प्रकार त्याग अथवा दान—ये दो ही लक्ष्मीके उपयोगके उत्तम मार्ग हैं। अज्ञानी तो परिग्रहमें सुख माननेसे उसकी ममता करके उसे साथमें ही रखना चाहता है। "जितना बढ़े परिग्रह उतना बढ़े सुख"-ऐसी अज्ञानीकी भ्रमणा है। ज्ञानी जानता है कि जितना परिग्रह छूटे उतना सुख है; मात्र बाह्यत्यागकी बात नहीं; अंदरका मोह छूटे तब परिग्रह छूटा कहनेमें आता है।

अहा, चैतन्यका आनन्दनिधान जिसने देखा उसे रागके फलरूप बाह्य वैभव तो तृणतुल्य लगता है। ऋषभदेव भगवानकी स्तुतिमें पद्मनंदीस्वामी कहते हैं कि अहो नाथ! दिव्यध्वनि द्वारा आपने आत्माके अचिन्त्य निधानको स्पष्टरूपसे बताया, तो अब इस जगत्‌में ऐसा कौन है कि इस निधानके खातिर राजपाटके निधानको तृणसमान

समझकर न त्यागे ?—और चैतन्यनिधानको न साधे ! देखो तो, बाहुबली जैसे बलवान योद्धा राजसम्पदा छोड़कर इस प्रकार चले गये कि पीछे फिरकर भी नहीं देखा कि राज्यका क्या हाल है ! चैतन्यकी साधनामें अडिगरूपसे ऐसे लीन हुए कि खड़े-खड़े ही केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ जैसे चक्रवर्ती-तीर्थंकर वैसे ही भरत-चक्रवर्ती, पाण्डव आदि महापुरुष भी क्षणमात्रमें राज्य-वैभव छोड़कर मुनि हुए; जीवनमें प्रारम्भसे ही भिन्नताकी भावनाका घोलन था। वे राग और राजसे पहले ही से अलिप्त थे इसलिये क्षणभरमें ही जिस प्रकार सर्प काँचली उतारता है उसी प्रकार वे राज्य और राग दोनोंको छोड़कर मुनि हुए और उन्होंने स्वरूपका साधन किया। अज्ञानीको तो साधारण परिग्रहकी ममता छोड़नी भी कठिन पड़ती है। चक्रवर्तीकी सम्पदाकी तो क्या बात ! परन्तु उन्होंने चैतन्यसुखके सामने उसे भी तुच्छ समझकर एक क्षणमें छोड़ दी। इसलिये कवि कहते हैं कि—

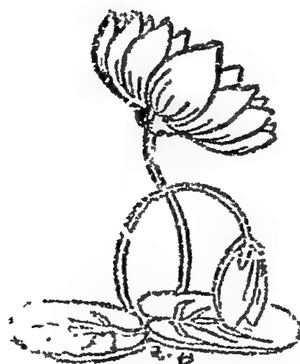
छयानवे हजार नार छिनकमें दीनी छार,
अरे मन ! ता निहार, काहे तू डरत है ?
छहों खण्डकी विभूति छांड़त न वेर कीन्हीं,
चमू चतुरंगन सों नेह न धरत है,
नौ निधान आदि जे चौदह रतन त्याग,
देह सेती नेह तोड़ वन विचरत है,
ऐसो विभौ त्यागत विलम्ब जिन कीन्हों नाहीं,
तेरे कहो केती निधि ? सोच क्यों करत है !

अरे, लक्ष्मी और जीवन अत्यन्त ही अस्थिर है, उसका क्या भरोसा ? लक्ष्मीका दूसरा नाम 'चपला' कहा है, क्योंकि वह इन्द्रधनुष जैसी चपल है—क्षणभंगुर है। लक्ष्मी कब चली जावेगी और जीवन कब समाप्त हो जावेगा इसका कोई भरोसा नहीं, कलका करोड़पति अथवा राजा-महाराजा आज भिखारी बन जाता है, आजका निरोगी दूसरे क्षण मर जाता है, सुबह जिसका राज्यअभिषेक हुआ संध्या समय उसकी ही चिता देखनेमें आती है। भाई, ये तो सब अध्रुव हैं, इसलिये ध्रुव चैतन्यस्वभावको दृष्टिमें लेकर इस लक्ष्मी आदिका मोह छोड़। धर्मी श्रावक अथवा जिज्ञासु गृहस्थ अपनी वस्तुमेंसे शक्तिअनुसार याचकोंको इच्छित दान देवें। दान योग्य वस्तुका होता है, अयोग्य वस्तुका दान नहीं होता। लौकिक कथाओंमें आता है कि किसी राजाने अपने शरीरका मांस काटकर दानमें दिया अथवा अमुक भक्तने अपने किसी एक पुत्रका मस्तक दानमें दिया,

—परन्तु यह वस्तु धर्मसे विरुद्ध है, यह दान नहीं कहलाता, यह तो कुदान है। दान देनेवालोंको भी योग्य-अयोग्यका विवेक होना चाहिये। आदरणीय धर्मात्मा आदिको आदरपूर्वक दान देवें, और अन्य दीन दुःखी जीवोंको करुणाबुद्धिसे दान देवें। धर्मीको ऐसी भावना होती है कि मेरे निमित्तसे जगतमें किसी प्राणीको दुःख न हो। सर्व प्राणियोंके प्रति अहिंसाभावरूप अभयदान है। और शास्त्रदान आदिका वर्णन भी पूर्वमें हो गया है।—ऐसे दानको मोक्षका प्रथम कारण कहा गया है।

प्रश्नः—मोक्षका मूल तो सम्यग्दर्शन है, तो यहाँ दानको मोक्षका प्रथम कारण कैसे कहा ?

उत्तरः—पहले प्रारम्भमें सर्वज्ञकी पहचानकी बात की थी, उस सहितकी यह बात है। उसी प्रकार श्रावकको प्रथम भूमिकामें धर्मका उल्लास और दानका भाव अवश्य होता है उसे बतानेके लिये व्यवहारसे उसे मोक्षका प्रथम कारण कहा है। इतना राग घटाना भी जिसे नहीं रुचे वह मोक्षमार्गमें कैसे आवेगा ? वीतरागदृष्टिपूर्वक जितना राग घटा उतना मोक्षमार्ग है। पहले दानादिमें राग घटाना सीखेगा तो आगे बढ़कर मुनिपना लेगा और मोक्षमार्गको साधेगा। इस अपेक्षासे दानको मोक्षका प्रथम कारण कहा है —ऐसा समझना।



# [ १७ ]

## मनुष्यपना प्राप्त करके या तो मुनि हो, या दान दे

जैनधर्मका चरणानुयोग भी अलौकिक है। द्रव्यानुयोगके अध्यात्मका और चरणानुयोगके परिणामका मेल होता है। दृष्टि सुधरे और परिणाम चाहे जैसे हुआ करें ऐसा नहीं बनता। अध्यात्मकी दृष्टि हो वहाँ देव-गुरुकी भक्ति, दान, साधर्मीके प्रति वात्सल्य आदि भाव सहज आते ही हैं। श्रावकके अन्तरमें मुनिदशाकी प्रीति है अर्थात् हमेशा त्यागकी ओर लक्ष रहा करता है, और मुनिराजको देखते ही भक्तिसे उसके रोम-रोम उल्लसित हो जाते हैं। भाई! ऐसा मनुष्य-अवतार मिला है तो मोक्ष मार्ग साधकर इसे सफल कर।

श्रावकधर्मका वर्णन सर्वज्ञकी पहचानसे शुरू किया था, उसमें यह दानका प्रकरण चल रहा है। उसमें कहते हैं कि ऐसा दुर्लभ मनुष्यपना प्राप्त करके जो मोक्षका उद्यम नहीं करता अर्थात् मुनिपना भी नहीं लेता और दानादि श्रावकधर्मका भी पालन नहीं करता, वह तो मोहबंधनमें बँधा हुआ है—

ये मोक्षंप्रति नोद्यताः सुनृभवे लब्धेपि दुर्बुद्धयः
ते तिष्ठंति गृहे न दानमिह चेत् तन्मोहपाशो दृढः।
मत्वेदं गृहिणा यथर्द्धि विविधं दानं सदा दीयतां
तत्संसारसरित्पति प्रतरणे पोतायते निश्चितं ॥ १७ ॥

ऐसा उत्तम मनुष्यभव प्राप्त करके भी जो कुबुद्धि जीव मोक्षका उद्यम नहीं करता और गृहस्थपनेमें रहकर दान भी नहीं देता उसका गृहस्थपना तो दृढ़ मोहपाशके समान है। ऐसा समझकर गृहस्थके लिये अपनी शक्ति अनुसार विविध प्रकार दान देना सदा कर्तव्य है, क्योंकि गृहस्थको तो दान संसारसमुद्रसे तिरनेके लिये निश्चित् जहाजके समान है।

प्रथम तो ऐसे मनुष्यपनेको पाकर मुनि होकर मोक्षका साक्षात् उद्यम करना चाहिये। उतनी शक्ति न हो तो गृहस्थपनेमें रहकर दान तो जरूर करना चाहिये। इतना भी जो नहीं करते और संसारके मात्र पापमें ही लगे रहते हैं वे तो तीव्र मोहके कारण संसारकी दुर्गतिमें कष्ट उठाते हैं।—इससे बचनेके लिये दान उत्तम जहाजके समान है। दानमें देव-गुरु-शास्त्रके प्रसंगकी मुख्यता है, जिससे उसमें धर्मका संस्कार बना रहे और राग घटाता जावे। तथा आगे जाकर मुनिपना होकर वह मोक्षमार्गको साध सके। श्रावकके अन्तःकरणमें मुनिदशाकी प्रीति है इसलिये हमेशा त्यागकी ओर लक्ष रहा करता है; मुनिराजको देखते ही भक्तिसे उसके रोम-रोम पुलकित हो जाते हैं। मुनिपनेकी भावनाकी बातें करे और अभी राग थोड़ा भी घटानेका ठिकाना न हो, लोभादि असीम हो—ऐसे जीवको धर्मका सच्चा प्रेम नहीं। धर्मी जीव मुनि अथवा अर्जिका न हो सके तो भले ही गृहवासमें रहता हो, परन्तु गृहवासमें रहते हुए भी उसकी आत्मामें कितनी उदासीनता है!

अरे, यह मनुष्य अवतार मिला है, जैनधर्मका और सत्संगका ऐसा उत्तम योग मिला है तो आत्माको साधकर मोक्षमार्ग द्वारा उसको सफल कर। जो संसारके मोहमें जीवन बिताता है उसके बदले आन्तरिक प्रयत्न द्वारा आत्मामेंसे माल बाहर निकाल, आत्माका वैभव प्रगट कर! चैतन्यनिधानके सामने जगतके अन्य सभी निधान तुच्छ हैं। अहा, संतोंने इस चैतन्यनिधानको स्पष्ट रूपसे दिखा दिया; उसे जानकर परिग्रह छोड़कर इस चैतन्य-खजानेको न लेवे ऐसा मूर्ख कौन है? चैतन्यनिधानको देखनेके पश्चात् बाहरके मोहमें लगा रहे ऐसा मूर्ख कौन है? करोड़ों रुपया देने पर भी जिस आयुष्यका एक समय भी बढ़ नहीं सकता ऐसे इस किमती मनुष्य जीवनको जो व्यर्थ गमाते हैं और जन्म-मरणके अंतका उपाय नहीं करते वे दुर्बुद्धि हैं। भाई! यह आत्माको साधनेका अवसर है। तेरे खजानेमेंसे जितना वैभव निकाले उतना निकले ऐसी बात है। अरे, इस अवसरको कौन खोवे? आनन्दका भंडार खुले तो आनन्दको कौन न लेवे, बड़े-बड़े चक्रवर्तियोंने और अल्पायु राजकुमारोंने इस चैतन्य-खजानेको लेने हेतु बाहरके खजानेको छोड़-छोड़कर वनमें गमन किया और अंतरमें ध्यान करके सर्वज्ञपदके अचिन्त्य खजानेको खोला; और उन्होंने जीवन सफल किया।

इस प्रकार धर्मात्मा तो आत्माका आनन्द-खजाना कैसे बढ़े उसीमें उद्यमी है। जो दुर्बुद्धि जीव ऐसा उद्यम नहीं करता, तृष्णाकी तीव्रतासे परिग्रह ही इकट्ठा किया करता है उसका तो जीवन व्यर्थ है। दानके बिना गृहस्थ तो मोहकी जालमें फँसे हुएके समान है। जिस प्रकार रसना-इन्द्रियकी तीव्र लोलुपी मछली जालमें फँस जाती है और दुःखी

होती है, उसीप्रकार तीव्र लोलुपी गृहस्थ मिथ्यात्व-मोहके जालमें फँसा रहता है और संसारभ्रमणमें दुःखी होता है। ऐसे संसारसे बचने हेतु दान नौका समान है। अतः गृहस्थोंको अपनी ऋद्धिके प्रमाणमें दान करना चाहिये।

"ऋद्धिके प्रमाणमें" का अर्थ क्या? लाखों-करोड़ोंकी सम्पत्तिमेंसे पाँच-दस रुपया खर्चे—वह कोई ऋद्धिके प्रमाणमें नहीं कहा जा सकता। अथवा अन्य कोई करोड़पतिने पाँच हजार खर्च किये और मैं तो उससे कम सम्पत्ति वाला हूँ—अतः मुझे तो उससे कम खर्च करना चाहिये,—ऐसी तुलना न करे। मुझे तो मेरे राग घटाने हेतु करना है ना? उसमें दूसरेका क्या काम है?

प्रश्नः—हमारे पास ओछी सम्पत्ति होवे तो दान कहाँसे करें?

उत्तरः—भाई, विशेष सम्पत्ति होवे तो ही दान होवे ऐसी कोई बात नहीं। और तू तेरे संसारकार्योंमें तो खर्च करता है कि नहीं? तो धर्मकार्यमें भी उल्लासपूर्वक ओछी सम्पत्तिमेंसे तेरी शक्तिप्रमाण खर्च कर। दानके बिना गृहस्थपना निष्फल है। अरे, मोक्षका उद्यम करनेका यह अवसर है। उसमें सभी राग न छूटे तो थोड़ा राग तो घटा! मोक्ष हेतु तो सभी राग छोड़ने पर मुक्ति है; दानादि द्वारा थोड़ा राग भी घटाते तुझसे जो नहीं बनता तो मोक्षका उद्यम तू किस प्रकार करेगा? अहा, इस मनुष्यपनेमें आत्मामें रागरहित ज्ञानदशा प्रगट करनेका प्रयत्न जो नहीं करता और प्रमादसे विषय-कषायोंमें ही जीवन विताता है वह तो मूढ़बुद्धि मनुष्यपना खो देता है।—बादमें उसे पश्चाताप होता है कि अरे रे! मनुष्यपनेमें हमने कुछ नहीं किया! जिसे धर्मका प्रेम नहीं, जिस घरमें धर्मात्माके प्रति भक्तिके उल्लाससे तन-मन-धन नहीं लगाया जाता वह वास्तवमें घर ही नहीं है परन्तु मोहका पिंजरा है, संसारका जेलखाना है। धर्मकी प्रभावना और दान द्वारा ही गृहस्थपनेकी सफलता है। मुनिपनेमें स्थित तीर्थंकरको अथवा अन्य महामुनियोंको आहारदान देने पर रत्नवृष्टि होती है—ऐसी पात्रदानकी महिमा है। एकबार आहारदानके प्रसंगमें एक धर्मात्माके यहाँ रत्नवृष्टि हुई, उसे देखकर किसीको ऐसा हुआ कि मैं भी दान देऊँ जिससे मेरे यहां भी रत्न बरसें।—ऐसी भावनासहित आहारदान दिया, आहार देता जावे और आकाशकी ओर देखता जावे कि अब मेरे आँगनमें रत्न बरसेंगे; परन्तु कुछ नहीं बरसा।—देखिये इसे दान नहीं कहते; इसमें मूढ़ जीवके लोभका पोषण है। धर्मी जीव दान देवे उसमें तो उसे गुणोंके प्रति प्रमोद है और राग घटानेकी भावना है। पहले मूर्खतावश कुदेव-कुगुरु पर जितना प्रेम था उसकी अपेक्षा अधिक प्रेम यदि सच्चे देव-गुरुके प्रति न आवे तो उसने सच्चे देव-गुरुको वास्तवमें पहचाना

ही नहीं, माना ही नहीं, वह देव-गुरुका भक्त नहीं; उसे तो सत्तास्वरूपमें कुलटा-स्त्री समान कहा है।

देखिये, इस जैनधर्मका चरणानुयोग भी कितना अलौकिक है! जैन श्रावकके आचरण किस प्रकार होवें उसकी यह बात है। रागकी मन्दताके आचरण बिना जैन श्रावकपना नहीं बनता। एक रागके अंशका कर्तृत्व भी जिसकी दृष्टिमें रहा नहीं ऐसे आचरणमें भी राग कितना मंद पड़ जाता है! पहले जैसे ही राग-द्वेष किया करे तो समझना कि इसकी दृष्टिमें कोई अपूर्वता नहीं आई, इसकी रुचिमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। रुचि और दृष्टि बदलते ही सारी परिणतिमें अपूर्वता आ जाती है, परिणामकी उथलपुथल हो जाती है। इसप्रकार द्रव्यानुयोगके अध्यात्मका और चरणानुयोगके परिणाम का मेल होता है। दृष्टि सुधरे और परिणाम चाहे जैसे हुआ करें ऐसा नहीं बनता। देव-गुरुके प्रति भक्ति, दान वगैरह परिणामकी मन्दताका जिसका ठिकाना नहीं है उसे तो दृष्टि सुधरनेका प्रसंग नहीं। जिज्ञासुकी भूमिकामें भी संसारकी तरफके परिणामोंकी अत्यंत ही मन्दता हो जाती है और धर्मका उत्साह बढ़ जाता है।

दानादिके शुभपरिणाम मोक्षके कारण हैं—ऐसा चरणानुयोगमें उपचारसे कहा जाता है परन्तु उसमें स्वसन्मुखता द्वारा जितने अंश रागका अभाव होता है उतने अंश मोक्षका कारण जानकर दानको उपचारसे मोक्षका कारण कहा; इसप्रकार परम्परासे वह मोक्षका कारण होगा, परन्तु किसे? जो शुभरागमें धर्म मानकर नहीं अटके उसे। परन्तु शुभरागको ही जो खरेखर मोक्ष कारण मानकर अटक जावेगा उसके लिये तो वह उपचारसे भी मोक्षमार्ग नहीं। वीतरागी शास्त्रोंका कोई भी उपदेश राग घटाने हेतु ही होता है, रागके पोषण हेतु नहीं होता।

अहो, जिसे अपनी आत्माका संसारसे उद्धार करना है उसे संसारसे उद्धार करनेका मार्ग बतानेवाले देव-गुरु-धर्मके प्रति परम उल्लास आता है। जो भवसे पार हो गये उनके प्रति उल्लाससे राग घटाकर स्वयं भी भवसे पार होनेके मार्गमें आगे बढ़ता है। जो जीव संसारसे पार होनेका इच्छुक होवे उसे कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रके प्रति प्रेम आता ही नहीं, क्योंकि उनके प्रति प्रेम तो संसारका ही कारण है।

प्रश्नः—सच्चे देव-गुरुके प्रति प्रेम करना भी तो राग ही है ना?

उत्तरः—यह सत्य है, परन्तु सच्चे देव-गुरुकी पहिचान सहित उनके तरफका राग सवेरेकी लालिमा जैसा है, उसके बाद थोड़े समयमें ही वीतरागतासे जगमगाता हुआ सूर्य उदय होगा। और कुदेव आदिका राग तो सन्ध्याकी लालिमा जैसा है, उसके पश्चात् अन्धकार है अर्थात् संसारभ्रमण है।

जहाँ धर्मके प्रसंगमें आपत्ति पड़े वहाँ तन-मन-धन अर्पण करनेमें धर्मी चूकता नहीं; उसे कहना नहीं पड़ता कि भाई! तुम ऐसा करो ना! परन्तु संघ पर, धर्म पर अथवा साधर्मी पर जहाँ आपत्ति प्रसंग आवे और आवश्यकता पड़े वहाँ धर्मात्मा अपनी सारी शक्तिके साथ तैयार ही रहता है। जिस प्रकार रण-संग्राममें राजपूतका शौर्य छिपता नहीं उसी प्रकार धर्म-प्रसंगमें धर्मात्माका उत्साह छिपा नहीं रहता। धर्मात्माका धर्मप्रेम ऐसा है कि धर्मप्रसंगमें उसका उत्साह छिपा नहीं रह सकता; धर्मकी रक्षा खातिर अथवा प्रभावना खातिर सर्वस्व स्वाहा करनेका प्रसंग आवे तो भी पीछे मुड़कर नहीं देखे। ऐसे धर्मोत्साहपूर्वक दानादिका भाव श्रावकको भव-समुद्रसे पार होने हेतु जहाज समान है। अतः गृहस्थोंको प्रतिदिन दान देना चाहिये।

—इस प्रकार दानका उपदेश दिया गया; अब जिनेन्द्रभगवानके दर्शनका विशेष उपदेश दिया जाता है।



## आत्माका जीवन चैतन्यसे है, शरीरसे नहीं

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय महान पदार्थ है, वह चैतन्यप्राणसे शाश्वत जीवित रहनेवाला है जिसने अपना ऐसा अस्तित्व स्वीकार किया है उसे जड़ इन्द्रिय आदि प्राणोंके साथ एकताबुद्धि नहीं रहती, क्योंकि वे जड़ प्राण कहीं आत्माके जीवनका कारण नहीं हैं। शरीरादि जड़ प्राण तो आत्मासे भिन्न हैं और पृथक् हो जाते हैं। यदि आत्मा उनसे जीवित रहता हो तो आत्मासे वे भिन्न क्यों रहें? उनके अस्तित्वसे कहीं आत्माका अस्तित्व नहीं, आत्माका अस्तित्व अपने चैतन्य भावप्राणसे ही है; ऐसे चैतन्यजीवको जिसने देखा उस सम्यग्दृष्टिको मरणका भय क्यों हो? मरण ही मेरा नहीं फिर मरणका भय कैसे? इस प्रकार धर्मी जीव मरणके भयसे रहित निःशंक तथा निर्भय परिणमन करता है। जगत मरणसे भयभीत है—परन्तु ज्ञानीको तो आनन्दकी लहर है, क्योंकि प्रथमसे ही अपनेको शरीरसे भिन्न ही अनुभव करता है।

★

## [ १८ ]

## जिनेन्द्र-दर्शनका भावपूर्ण उपदेश

भगवानकी प्रतिमा देखते ही 'अहो, ऐसे भगवान!' इस प्रकार एक वार भी जो सर्वज्ञदेवके यथार्थ स्वरूपको लक्ष गत कर ले तो कहते हैं कि भवसे तेरा वेड़ा पार है। प्रातःकाल भगवानके दर्शन द्वारा अपने इष्ट–ध्येयको स्मरण करके बादमें ही श्रावक दूसरी प्रवृत्ति करे। इसी प्रकार स्वयं भोजन करनेके पूर्व मुनिवरोंको याद करे कि अहा, कोई सन्त–मुनिराज अथवा धर्मात्मा मेरे आँगनमें पधारें और भक्ति-पूर्वक उन्हें भोजन करा करके पीछे मैं भोजन करूँ। देव-गुरुकी भक्तिका ऐसा प्रवाह श्रावकके हृदयमें बहना चाहिये। भाई! प्रातःकाल उठते ही तुझे वीतराग भगवानकी याद नहीं आती, धर्मात्मा सन्त–मुनि याद नहीं आते और संसारके अखबार, व्यापार-धन्धा अथवा स्त्री आदिकी याद आती है, तो तू ही विचारकर कि तेरी परिणति किस ओर जा रही है?

भगवान सर्वज्ञदेवकी श्रद्धापूर्वक धर्मी श्रावकको प्रतिदिन जिनेन्द्रदेवके दर्शन, स्वाध्याय, दान आदि कार्य होते हैं उसका वर्णन चल रहा है; उसमें सातवीं गाथासे प्रारम्भ करके सत्रहवीं गाथा तक अनेक प्रकारसे दानका उपदेश किया। जो जीव जिनेन्द्रदेवके दर्शन-पूजन नहीं करता तथा मुनिवरोंको भक्तिपूर्वक दान नहीं देता उसका गृहस्थपना पत्थरकी नौकाके समान भव-समुद्रमें डबोनेवाला है—ऐसा अब कहते हैं:—

येर्नित्यं न विलोक्यते जिनपतिः न स्मर्यते नार्च्यते
न स्तूयेत न दीयते मुनिजने दानं ज भक्त्या परम्।
सामर्थ्ये सति यद्गृहाश्रमपदं पाषाणनावा समं
तत्रस्था भवसागरेतिविषमे मज्जन्ति नश्यन्ति च॥ १८॥

सामर्थ्य होते हुए भी जो गृहस्थ हमेशा परम भक्तिसे जिननाथके दर्शन नहीं करता, अर्चन नहीं करता और स्तवन नहीं करता, तथा परम भक्तिसे मुनिराजोंको दान

नहीं देता, उसका गृहस्थाश्रमपद पत्थरकी नावके समान है; पत्थरकी नौकाके समान गृहस्थपदमें स्थित हुआ वह जीव अत्यन्त भयंकर भवसागरमें डूबता है और नष्ट होता है।

जिनेन्द्रदेव—सर्वज्ञ परमात्माका दर्शन, पूजन वह श्रावकके हमेशाका कर्तव्य है। प्रतिदिनके छह कर्त्तव्योंमें भी सबसे पहला कर्त्तव्य जिनदेवका दर्शन-पूजन है। प्रातःकाल भगवानके दर्शन द्वारा निजके ध्येयरूप इष्टपदको स्मरण करके पश्चात् ही श्रावक दूसरी प्रवृत्ति करे। इसीप्रकार स्वयं भोजनके पूर्व मुनिवरोंको याद करके अहा, कोई सन्त-मुनिराज अथवा धर्मात्मा मेरे आँगनमें पधारें तो भक्तिपूर्वक उन्हें भोजन देकर पश्चात् मैं भोजन करूँ।—इस प्रकार श्रावकके हृदयमें देव-गुरुकी भक्तिका प्रवाह बहना चाहिये। जिस घरमें ऐसी देव-गुरुकी भक्ति नहीं वह घर तो पत्थरकी नौकाके समान डूबनेवाला है। छठवें अधिकारमें ( श्रावकाचार-उपासक संस्कार गाथा ६५ में ) भी कहा था कि दान विना गृहस्थाश्रम पत्थरकी नौकाके समान है। भाई! प्रातःकाल उठते ही तुझे वीतराग भगवानकी याद नहीं आती, धर्मात्मा-संत-मुनि याद नहीं आते और संसारके अखबार, व्यापार-धंधा अथवा स्त्री आदिकी याद है तो तू ही विचार कि तेरी परिणति किस तरफ जा रही है?—संसारकी तरफ कि धर्मकी तरफ? आत्मप्रेमी हो उसका तो जीवन ही मानो देव-गुरुमय हो जाता है।

'हरतां फरतां प्रगट हरि देखुं रे...
मारू जीव्युं सफळ तव लेखुं रे....'

पंडित बनारसीदासजी कहते हैं कि 'जिनप्रतिमा जिनसारखी' जिनप्रतिमामें जिनवरदेवकी स्थापना है, उस परसे जिनवरदेवका स्वरूप जो पहिचान लेता है, उसीप्रकार जिनप्रतिमाको जिनसमान ही देखता है उस जीवकी भवस्थिति अतिअल्प होती है, अल्प-कालमें वह मोक्ष प्राप्त करता है। 'षट्खण्डागम' ( भाग ६ पृष्ठ ४२७ )में भी जिनेन्द्रदर्शनको सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका निमित्त कहा है तथा उससे निद्धत और निकाचितरूप मिथ्यात्व आदि कर्मसमूह भी नष्ट हो जाते हैं ऐसा कहा है। इसकी रुचिमें वीतरागी-सर्वज्ञस्वभाव प्रिय लगा है और संसारकी रुचि इसे छूट गई है, अर्थात् निमित्तमें भी ऐसे वीतराग निमित्तके प्रति उसे भक्तिभाव उछलता है। जो परमभक्तिसे जिनेन्द्र-भगवानका दर्शन नहीं करता, तो इसका अर्थ यह हुआ कि इसे वीतरागभाव नहीं रुचता, और तिरनेका निमित्त नहीं रुचता, परन्तु संसारमें डूबनेका निमित्त रुचता है। जैसी रुचि होती है वैसे संबंधोंकी तरफ रुचि जाये विना नहीं रहती। इसलिये कहते हैं कि वीतरागी जिनदेवको देखते ही जिसे अन्तरमें भक्ति नहीं उल्लसती, जिसे पूजा-स्तुतिका भाव उत्पन्न नहीं होता वह

गृहस्थ समुद्रके बीच पत्थरकी नावमें बैठा है। नियमसारमें पद्मप्रभु मुनि कहते हैं कि—

भवभयभेदिनि भगवति भवतः किं भक्तिरत्र न समस्ति ?
तर्हि भवाम्बुधिमध्यग्राहमुखान्तर्गतो भवसि ॥ १२ ॥

भवभयको छेदन करनेवाले ऐसे इन भगवानके प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं ?—यदि नहीं तो तू भवसमुद्रके बीच मगरके मुखमें है।

अरे, बड़े-बड़े मुनि भी जिनेन्द्रदेवके दर्शन और स्तुति करते हैं और तुझे जो ऐसा भाव नहीं आता और एकमात्र पापमें ही रचापचा रहता है तो तू भवसमुद्रमें डूब जावेगा, भाई ! यदि तुझे इस भवदुःखके समुद्रमें नहीं डूबना हो और इससे तिरना हो तो संसारके तरफकी तेरी रुचि बदलकर वीतरागी देव-गुरु तरफ तेरे परिणामको लगा; वे धर्मका स्वरूप क्या कहते हैं उसे समझ, और उनके कहे हुए आत्मस्वरूपको रुचिमें ले; तो भवसमुद्रमेंसे तेरा छुटकारा होगा।

भगवानकी मूर्तिमें 'यह भगवान हैं' ऐसा स्थापनानिक्षेप वास्तवमें सम्यग्दृष्टिको ही होता है; क्योंकि, सम्यग्दर्शनपूर्वक प्रमाणज्ञान होता है, प्रमाणपूर्वक सम्यक्नय होता है, और नयके द्वारा सच्चा निक्षेप होता है। निक्षेप नय विना नहीं, नय प्रमाण विना नहीं, और प्रमाण शुद्धात्माकी दृष्टि विना नहीं। अहो, देखो तो सही, यह वस्तुस्वरूप ? जैनदर्शनकी एक ही धारा चली जा रही है। भगवानकी प्रतिमा देखते ही 'अहो, ऐसे भगवान !' ऐसा एक वार भी जो सर्वज्ञदेवका यथार्थ स्वरूप लक्षगत कर लिया, तो कहते हैं कि भवसे तेरा बेड़ा पार है।

यहाँ एकमात्र दर्शन करनेकी बात नहीं की, परन्तु प्रथम तो 'परम भक्ति'से दर्शन करनेको कहा है, उसी प्रकार अर्चन ( पूजन ) और स्तुति करनेको भी कहा है। सच्ची पहिचान पूर्वक ही परम भक्ति उत्पन्न होती है, और सर्वज्ञदेवकी सच्ची पहिचान हो वहाँ तो आत्माका स्वभाव लक्षगत हो जाता है, अर्थात् उसे दीर्घसंसार नहीं रहता। इस प्रकार भगवानके दर्शनकी बातमें भी गहरा रहस्य है। मात्र ऊपरसे मान ले कि स्थानकवासी लोग मूर्तिको नहीं मानते और हम दिगम्बर जैन अर्थात् मूर्तिको माननेवाले हैं,—ऐसे रूढ़िगत भावसे दर्शन करे, उसमें सच्चा लाभ नहीं होता, सर्वज्ञदेवकी पहचान सहित दर्शन करे तो ही सच्चा लाभ होता है। ( यह बात "सत्तास्वरूप"में बहुत विस्तारसे समझाई है। )

अरे भाई ! तुझे आत्माके तो दर्शन करना नहीं आता और आत्माके स्वरूपको देखने हेतु दर्पण समान ऐसे जिनेन्द्रदेवके दर्शन भी तू नहीं करता तो तू कहाँ जावेगा

भाई! जिनेन्द्रभगवानके दर्शन-पूजन भी न करे और तू अपनेको जैन कहलावे, ये तेरा जैनपना कैसा? जिस घरमें प्रतिदिन भक्तिपूर्वक देव-गुरुके दर्शन-पूजा होते हैं, मुनिवरों आदि धर्मात्माओंको आदरपूर्वक दान दिया जाता है—वह घर धन्य है; इसके विना घर तो स्मशानतुल्य है। अरे, वीतरागी सन्त अधिक क्या कहें? ऐसे धर्मरहित गृहस्थाश्रमको तो हे भाई! समुद्रके गहरे पानीमें तिलांजलि दे देना!—नहीं तो यह तुझे डुबो देगा!

धर्मी जीव प्रतिदिन जिनेन्द्रभगवानके दर्शनादि करते हैं। जिस प्रकार संसारका रागी जीव स्त्री-पुत्रादिके मुँहको अथवा चित्रको प्रेमसे देखता है, उसी प्रकार धर्मका रागी जीव वीतराग-प्रतिमाका दर्शन भक्ति सहित करता है। रागकी इतनी दशा बदलते भी जिससे नहीं बनती वह वीतरागमार्गको कि प्रकार साधेगा? जिस प्रकार प्रिय पुत्र-पुत्रीको न देखे तो माताको चैन नहीं पड़ता, अथवा माताको न देखे तो बालकको चैन नहीं पड़ता, उसी प्रकार भगवानके दर्शन विना धर्मात्माको चैन नहीं पड़ता। "अरे रे, आज मुझे परमात्माके दर्शन न हुए, आज मैंने मेरे भगवानको नहीं देखा, मेरे प्रिय नाथके दर्शन आज मुझे नहीं मिले!" इस प्रकार धर्मीको भगवानके दर्शन विना चैन नहीं पड़ता। (चेलना रानीको जिस प्रकार श्रेणिकके राज्यमें पहले चैन नहीं पड़ता था; उसी प्रकार।) अन्तरमें अपने धर्मकी लगन है और पूर्णदशाकी भावना है इसलिये पूर्णदशाको प्राप्त भगवानको मिलने हेतु धर्मीके अन्तरमें तीव्र इच्छा आ गई है; साक्षात् तीर्थंकरके वियोगमें उनकी वीतरागप्रतिमाको भी जिनवर समान ही समझकर भक्तिसे दर्शन-पूजा करता है, और वीतरागके प्रति बहुमानके कारण ऐसी भक्ति-स्तुति करता है कि देखनेवालोंके रोम-रोम पुलकित हो जाते हैं।—इस प्रकार जिनेन्द्रदेवके दर्शन, मुनिवरोंकी सेवा, शास्त्र-स्वाध्याय, दानादिमें श्रावक प्रतिदिन लगा रहता है।

यहाँ तो मुनिराज कहते हैं कि शक्ति होनेपर भी प्रतिदिन जो जिनदेवके दर्शन नहीं करता वह श्रावक ही नहीं; वह तो पत्थरकी नौकामें बैठकर भवसागरमें डूबता है। तो फिर वीतराग-प्रतिमाके दर्शन-पूजनका जो निषेध करे उसकी तो बात ही क्या करना?—इसमें तो जिनमार्गकी अतिविराधना है। अरे, सर्वज्ञकी पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हो गई वैसी परमात्मदशाका जिसे प्रेम होवे, उसे उनके दर्शनका उल्लास आये विना कैसे रहे? वह तो प्रतिदिन भगवानके दर्शन करके अपनी परमात्मदशारूप ध्येयको प्रतिदिन ताजा रखता है।

भगवानके दर्शनकी तरह मुनिवरोंके प्रति भी धर्मीको परमभक्ति होती है। भरत चक्रवर्ती जैसे भी महान आदरपूर्वक भक्तिसे मुनियोंको आहारदान देते थे, और अपने

आँगनमें मुनि पधारें उस समय अपनेको धन्य मानते थे। अहा! मोक्षमार्गी मुनिके दर्शन भी कहाँ!!—यह तो धन्य भाग्य और धन्य घड़ी! मुनिके विरहकालमें बड़े धर्मात्माओंके प्रति भी ऐसा बहुमानका भाव आता है कि अहो, धन्य भाग्य, मेरे आँगनमें धर्मात्माके चरण पड़े! ऐसे धर्मके उल्लाससे धर्मी श्रावक मोक्षमार्गको साधता है; और जिसे धर्मका ऐसा प्रेम नहीं वह संसारमें डूबता है। कोई कहे कि मूर्ति तो पाषाणकी है!—परन्तु भाई, इसमें ज्ञानबलसे परमात्माका निक्षेप किया है कि—"यह परमात्मा है।" इस निक्षेपका इन्कार करना ज्ञानका ही इन्कार करने समान है। जिनबिम्ब-दर्शनको तो सम्यग्दर्शनका निमित्त गिना है, उस निमित्तका भी जो निषेध करे उसे सम्यग्दर्शनका भी ज्ञान नहीं है। समन्तभद्रस्वामी कहते हैं कि हमें तेरी स्तुतिका व्यसन पड़ गया है। जिस प्रकार व्यसनी मनुष्य अपने व्यसनकी वस्तुके बिना नहीं रह सकता, उसी प्रकार सर्वज्ञके भक्तोंको स्तुतिका व्यसन है इसलिये भगवानकी स्तुति-गुणगान बिना वे नहीं रह सकते। धर्मात्माके हृदयमें सर्वज्ञदेवके गुणगान चित्रित हो गये हैं। अहा, साक्षात् भगवानको देखना मिले—यह तो धन्य घड़ी है! कुन्दकुन्दाचार्य जैसोंने विदेहमें जाकर सीमन्धरनाथको साक्षात् देखा।—इनकी तो क्या बात! अभी तो यहाँ ऐसा काल नहीं है। अरे तीर्थंकरोंका विरह, केवलियोंका विरह, महान संत-मुनियोंका भी विरह—ऐसे कालमें जिनप्रतिमाके दर्शनसे भी धर्मी जीव भगवानके स्वरूपको याद करता है। इसी प्रकार वीतराग जिनमुद्राको देखनेकी जिसे उमंग न हो वह जीव संसारकी तीव्र रुचिको लेकर संसार-सागरमें डूबनेवाला है। वीतरागका भक्त तो वीतरागदेवका नाम सुनते ही और दर्शन करते ही प्रसन्न हो जाता है। जिस प्रकार सज्जन विनयवन्त पुत्र रोज सवेरे माता-पिताके पास जाकर विवेकसे चरणस्पर्श करता है, उसी प्रकार धर्मी जीव प्रभुके पास जाकर बालक जैसा होकर, विनयसे प्रतिदिन धर्मपिता जिनेन्द्र भगवानके दर्शन करता है, उनकी स्तुति-पूजा करता है; मुनिवरोंको भक्तिसे आहारदान करता है। ऐसे वीतरागी देव-गुरुकी भक्तिके बिना जीव मिथ्यात्वकी नावमें बैठकर चार गतिके समुद्रमें डूबता है और बहुमूल्य मनुष्य-जीवनको नष्ट कर डालता है। अतः धर्मके प्रेमी जीव देव-गुरुकी भक्तिके कार्योंमें हमेशा अपने धनका और जीवनका सदुपयोग करें—ऐसा उपदेश है।

—इस प्रकार आचार्य जिनेन्द्रदेवके दर्शनका तथा दानका उपदेश देकर अब दाताकी प्रशंसा करते हैं।



[ १९ ]

## धर्मात्मा इस कलियुगके कल्पवृक्ष हैं

卐

आचार्य कहते हैं कि पुण्यफलरूप चिन्तामणि आदिकी महिमा हमें नहीं; हमें तो यह दाता ही उत्तम लगता है कि जो धर्मकी आराधना सहित दान करता है....अपनी शक्ति होते हुए भी धर्मकार्य रुके ऐसा धर्मी जीव देख नहीं सकता।

卐

धर्मात्मा-श्रावक दानादि द्वारा इस कालमें कल्पवृक्ष आदिका कार्य करते हैं, ऐसा अब कहते हैं:—

चिन्तारत्न–सुरद्रु–कामसुरभि-स्पर्शोपलाद्या भुवि
ख्याता एव परोपकारकरणे दृष्टा न ते केनचित्,
तैरत्रोपकृतं न केषुचिदपि प्रायो न संभाव्यते
तत्कार्याणि पुनः सदैव विदधत् दाता परं दृश्यते ॥ १९ ॥

जगत्में चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कामधेनु गाय और पारस-पत्थर परोपकार करनेमें प्रसिद्ध हैं, परन्तु यहाँ उपकार करते हुए उनको किसीने नहीं देखा; उसीप्रकार उन्होंने किसीको उपकृत नहीं किया और यहाँ उनकी संभावना भी प्रायः नहीं है। परन्तु दातार अकेला मनोवांछित दानसे सदैव इस चिन्तामणि आदिका काम करते हुए देखनेमें आता है। अतः सच्चा दाता पुरुष ही उन चिन्तामणि आदि पदार्थोंसे उत्तम है।

धर्मात्माके लिये परमार्थरूपसे चिन्तामणि तो अपनी आत्मा है कि जिसके चिंतनसे केवलज्ञान और सम्यग्दर्शन आदि निधान प्रगट होते हैं। इस चैतन्यचिन्तामणिके सामने बाहरके चिन्तामणि आदिकी वांछा ज्ञानीको नहीं है, जो भी पुण्यके फलसे चिन्तामणि, कल्पवृक्ष आदि वस्तुएँ होती हैं खरी,—इसके चिन्तवनसे बाह्य सामग्री वस्त्र–भोजनादि मिलते हैं, परन्तु इसके पाससे कोई धर्म अथवा सम्यग्दर्शनादि नहीं मिलता है। चौथे

कालमें इस भरतभूमिमें भी कल्पवृक्ष वगैरह थे, समवशरणमें भी वे होते हैं, आजकल लोगोंके पुण्य घट गये हैं इसलिये वे वस्तुएँ यहाँ देखनेमें नहीं आती; परन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसे पुण्यफलकी महिमा हमें नहीं, हमें तो वह दातार ही उत्तम लगता है कि जो धर्मकी आराधना सहित दान करता है। दानके फलमें कल्पवृक्ष आदि तो इसके पास सहजरूपमें आवेंगे।

पारसका पत्थर लोहेमेंसे सोना करता है—इसमें क्या! —इस चैतन्यचिन्तामणिका स्पर्श होते ही आत्मा पामरमेंसे परमात्मा बन जाता है—ऐसा चिन्तामणि ज्ञानीके हाथमें आ गया है। वह धर्मात्मा अन्तरमें राग घटाकर धर्मकी वृद्धि करता है, और बाह्यमें भी धर्मकी वृद्धि कैसे हो, देव-गुरुकी प्रभावना और महिमा कैसे बढ़े और धर्मात्मा-साधर्मीको धर्मसाधनमें किस प्रकार अनुकूलता हो, ऐसी भावनासे वह दानकार्य करता है। जब आवश्यकता हो तब और जितनी आवश्यकता हो उतना देनेके लिये वह सदैव तैयार रहता है, इसलिये वह वास्तवमें चिन्तामणि और कामधेनु है। दाता पारसमणिके समान है, क्योंकि उसके सम्पर्कमें आनेवालेकी दरिद्रता वह दूर करता है।

मेरुपर्वतके पास देवकुरु-उत्तरकुरु भोगभूमि है, वहाँ कल्पवृक्ष होते हैं, वे इच्छित सामग्री देते हैं; वहाँ जुगलिया जीव होते हैं और कल्पवृक्षसे अपना जीवननिर्वाह करते हैं। दानके फलमें जीव वहाँ जन्म लेता है। यहाँ भी प्रथम-द्वितीय-तृतीय आरेमें ऐसे कल्पवृक्ष थे, परन्तु वर्तमानमें नहीं हैं; इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि ये कल्पवृक्ष आदि प्रसिद्ध होते हुए भी वर्तमानमें यहाँ तो वे किसीका उपकार करते देखनेमें नहीं आते। यहाँ तो दातार श्रावक ही इच्छित दान द्वारा उपकार करता देखनेमें आता है। चिन्तामणि आदि तो वर्तमानमें श्रवणमात्र हैं दिखते नहीं, परन्तु चिन्तामणिकी तरह उदारतासे दान करनेवाला धर्मी—श्रावक तो वर्तमानमें भी दिखाई पड़ता है।

देखो, नौ सौ वर्ष पूर्व पद्मनंदी मुनिराजने यह रचा है; उस समय ऐसे श्रावक थे। ये पद्मनंदी मुनिराज महान संत थे; वनवासी दिगम्बर संतोंने सर्वज्ञके वीतरागमार्गकी यथार्थ प्रणालीको टिका रखा है। दिगम्बर मुनि तो जैनशासनके स्तंभ हैं। इन पद्मनंदी मुनिराजने इस शास्त्रमें वैराग्य और भक्तिके उपदेशकी रेलमछेल की है, उसीप्रकार निश्चय-पंचाशत आदि अधिकारोंमें शुद्धात्माके अध्यात्मस्वरूपका अध्ययन किया है। कुन्दकुन्द-स्वामीका दूसरा नाम "पद्मनंदी स्वामी" था। परन्तु वे ये पद्मनंदी नहीं थे, ये पद्मनंदी मुनि तो उनके पीछे लगभग हजार वर्ष बाद हुए। वे कहते हैं कि दान करनेवाला उत्तम श्रावक धर्मात्मा चिन्तामणि समान है।

प्रसंगमें जरूर पड़े अथवा जिनमंदिर नया-बड़ा कराना है।

तो श्रावक कहता है 'कितना खर्च ?' कि सवा लाख रुपया।

वह तुरन्त कहता है—यह लो; और उत्तम मन्दिर बनवाओ।

इस प्रकार उदारतासे दान देने वाले धर्मात्मा थे। इसके लिये घर घर जाकर चंदा नहीं करना पड़ता था। अपनी शक्ति होते हुए भी धर्मका कार्य रुके वह धर्मी जीव देख नहीं सकता। इसलिये कहते हैं कि धर्मात्मा श्रावक ही उदारतासे मनोवांछित दान देने वाला चिन्तामणि—कल्पवृक्ष और कामधेनु है,—जब आवश्यकता पड़े तब देवे। आवश्यकता पड़ने पर दान नहीं देवे तो वह दातार कैसा? धर्मप्रसंगमें आवश्यकता पड़ने पर दाता छिपा नहीं रहता। जिस प्रकार देशके लिये भामाशाहने (वह जैन था) अपनी सम्पूर्ण संपत्ति महाराणा प्रतापके पास रख दी; उसीप्रकार धर्मी जीव धर्मके लिये जरूरत पड़ने पर अपना सर्वस्व अर्पण कर दे। दाताको चिन्तामणि आदिसे भी दान प्रिय है; क्योंकि चिन्तामणि आदि वस्तुएँ जो उपकार करती हैं वह भी पूर्वमें सत्पात्रदानसे जो पुण्य बँधा उसके कारणसे है; इसलिये वास्तवमें दातामें ही यह सब समा जाता है—इस प्रकार दाताकी प्रशंसा की गई। अब जहाँ धर्मात्मा श्रावक रहते हों वहाँ अनेक प्रकारसे धर्मकी प्रवृत्ति चला करती है यह बतलाकर उसकी प्रशंसा करते हैं।



## चैतन्य-विभूति

अरे, कहाँ मेरी चैतन्यविभूति! और कहाँ यह इन्द्रपद इत्यादि बाह्य पुण्यके ठाठ! पुण्य यह तो चैतन्यकी विकृतिका फल है, इसमें मेरी महत्ता नहीं है; मेरी महत्ता तो मेरे चैतन्यकी विशुद्धतामें ही है। चैतन्यकी महत्तामें जो अतीन्द्रिय-आनन्दका समुद्र उछलता है उसके समक्ष जगतके किसी भी फलकी महत्ता ज्ञानीको नहीं है। ज्ञानी चैतन्यकी विभूतिके समक्ष जगतकी विभूतिको धूलके समान समझकर, त्याग करके चैतन्यकी साधना करते हैं।

# [ २० ]

## धर्मी-श्रावकों द्वारा धर्मका प्रवर्तन

गुणवान श्रावकों द्वारा धर्मकी प्रवृत्ति चला करती है इसलिये वे श्रावक प्रशंसनीय हैं। श्रावक-श्राविका अपनी लक्ष्मी आदि अर्पण करके भी धर्मकी प्रभावना किया करते हैं। सन्तोंके हृदयमें धर्मकी प्रभावनाका भाव होता है; धर्मकी शोभाके लिये धर्मात्मा-श्रावक अपना हृदय लगा देते हैं,— ऐसी धर्मकी लगन उनके अंतरमें होती है।

卐

जहाँ धर्मी श्रावक निवास करता हो वहाँ धर्मकी कैसी प्रवृत्ति चलती है वह बतलाते हैं—

यत्र श्रावकलोक एप वसति स्यात्तत्र चैत्यालयो
यस्मिन् सोऽस्ति च तत्र सन्ति यतयो धर्मश्च तैः वर्तते।
धर्मे सत्यघसंचयो विघटते: स्वर्गापवर्गाश्रयं
सौख्यं भाव्रि नृणां ततो गुणवतां स्युः श्रावकाः संमताः ॥ २० ॥

जहाँ ऐसे धर्मात्मा श्रावकजन निवास करते हों वहाँ चैत्यालय-जिनमन्दिर होता है, और जिनमन्दिर हो वहाँ मुनि आदि धर्मात्मा आते हैं और वहाँ धर्मकी प्रवृत्ति चलती है। धर्म द्वारा पूर्व संचित पापोंका नाश होता है और स्वर्ग-मोक्षके सुखकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार धर्मकी प्रवृत्तिका कारण होनेसे गुणवान पुरुषों द्वारा श्रावक इष्ट है-आदरणीय है-प्रशंसनीय है।

श्रावक जहाँ निवास करता हो वहाँ दर्शन-पूजनके लिये जिनमन्दिर बनवाता है। अनेक मुनि आदि विहार करते-करते जहाँ जिनमन्दिर होता है वहाँ आते हैं, और उनके उपदेश आदिसे धर्मकी प्रवृत्ति चला करती है, और स्वर्ग-मोक्षका साधन होता है। श्रावक हो वहाँ ही यह सब होता है। इसलिये भव्य जीवोंको ऐसे उत्तम श्रावकका

आदर-सत्कार करना चाहिये। 'संमताः' अर्थात् कि वह इष्ट है, धर्मात्माओंको मान्य है, प्रशंसनीय है।

देखिये, जहाँ श्रावक रहते हों वहाँ जिनमन्दिर तो होना ही चाहिये। थोड़े श्रावक हो और छोटा गाँव हो तो दर्शन-पूजन हेतु चाहे छोटा-सा ही चैत्यालय पहिले बनवावे। पूर्वकालमें कई श्रावक घरमें ही चैत्यालय स्थापित करते थे। देखिये न, मूड़बिद्री (दक्षिण देश)में रत्नोंकी कैसी जिन-प्रतिमाएँ हैं? ऐसे जिनदेवके दर्शनसे तथा मुनि आदिके उपदेश श्रावणसे पहिलेके बँधे हुए पाप क्षणमें छूट जाते हैं। पहिले तो स्थान-स्थान पर ग्रामोंमें वीतरागी जिनमन्दिर थे, क्योंकि दर्शन बिना तो श्रावकको चले ही नहीं। दर्शन किये बिना खाना तो बासी भोजन समान कहा गया है। जहाँ जिनमन्दिर और जिनधर्म न हो वह गाँव तो स्मशानतुल्य कहा गया है। अतः जहाँ-जहाँ श्रावक होते हैं वहाँ जिनमन्दिर होते हैं और मुनि आदि त्यागी धर्मात्मा वहाँ आया करते हैं, अनेक प्रकारके उत्सव होते हैं, धर्मचर्चा होती है; और इसके द्वारा पापका नाश तथा स्वर्ग-मोक्षका साधन होता है। जिनबिम्बदर्शनसे निद्धत और निकाचित मिथ्यात्वकर्मके भी सैकड़ों टुकड़े हो जाते हैं ऐसा उल्लेख सिद्धान्तमें है; धर्मकी रुचि सहितकी यह बात है। 'अहो, यह मेरे ज्ञायकस्वरूपका प्रतिबिम्ब! ऐसे भावसे दर्शन करने पर, सम्यग्दर्शन न हो तो नया सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है और अनादिके पापोंका नाश हो जाता है, मोक्षमार्ग खुल जाता है। गृहस्थ-श्रावकों द्वारा ऐसे जिनमन्दिरकी और धर्मकी प्रवृत्ति होती है, अतः आचार्यदेव कहते हैं कि वे श्रावक धन्य हैं! गृहस्थावस्थामें रहनेवाले भाई-बहिन भी जो धर्मात्मा होते हैं वे सज्जनों द्वारा आदरणीय होते हैं। श्राविका भी जैनधर्मकी ऐसी प्रभावना करती है; वह श्राविका-धर्मात्मा भी जगतके जीवों द्वारा सत्कार करने योग्य है। देखिये न, चेलनारानीने जैनधर्मकी कितनी प्रभावना की? इस प्रकार गृहस्थावस्थामें रहनेवाले श्रावक-श्राविका अपनी लक्ष्मी आदि न्यौछावर करके भी धर्मकी प्रभावना करते रहते हैं। सन्तोंके हृदयमें धर्मकी प्रभावनाके भाव रहते हैं, धर्मकी शोभा हेतु धर्मात्मा-श्रावक अपना हृदय भी अर्पण कर देते हैं ऐसी धर्मकी तीव्र लगन इनके हृदयमें होती है। ऐसे श्रावकधर्मका यहाँ पद्मनन्दीस्वामीने इस अधिकारमें प्रकाश किया है—उद्योत किया है। इसका विस्तार और प्रचार करने जैसा है; अतः अपने प्रवचनमें यह अधिकार तीसरी बार पढ़ा जा रहा है। (इस पुस्तकमें तीनों बारके प्रवचनोंका संकलन है।)

देखिये, इस श्रावकधर्ममें भूमिका अनुसार आत्माकी शुद्धि तो साथ ही वर्तती

है। पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक उत्तम देवगति सिवाय अन्य किसी गतिमें नहीं जाता—यह नियम है। स्वर्गमें जाकर वहाँ भी वह जिनेन्द्रदेवकी भक्ति-पूजन करता है। छठवें-सातवें गुणस्थानमें झूलते संत प्रमोदसे कहते हैं कि अहो! स्वर्ग-मोक्षकी प्रवृत्तिका कारणरूप वह धर्मात्मा श्रावक हमें सम्मत है, गुणीजनों द्वारा आदरणीय है।

श्रावक अकेला हो तो भी अपनी शक्ति अनुसार दर्शन हेतु जिनमंदिर आदि बनवावे। जिस प्रकार पुत्र-पुत्रीके विवाहमें अपनी शक्ति अनुसार धन उमंग पूर्वक खर्च करता है; वहाँ अन्यके पास चंदा करानेके लिये नहीं जाता, उसीप्रकार धर्मी जीव जिनमंदिर आदि हेतु अपनी शक्ति अनुसार धन खर्च करता है। अपने पास शक्ति होते हुए भी धन न खर्चे और अन्यके पास माँगने जाय—यह शोभा नहीं देता। जिनमंदिर तो धर्मकी प्रवृत्तिका मुख्य स्थान है। मुनि भी वहाँ दर्शन करने आते हैं। गाँवमें कोई धर्मात्माका आगमन हो तो वह भी जिनमंदिर तो जरूर जाता है। उत्तमकालमें तो ऐसा होता था कि मुनिवर आकाशमें गमन करते समय नीचे मंदिर देखकर दर्शन करने आते थे, और महान धर्मप्रभावना होती थी। अहो, ऐसे वीतरागी मुनिका वर्तमानमें तो दर्शन होना कठिन है।

वनमें विचरण करनेवाले सिंह जैसे मुनिवरोंके दर्शन तो बहुत दुर्लभ हैं; परन्तु धर्मकी प्रवृत्ति धर्मात्मा श्रावकों द्वारा चला करती है इसलिये ऐसे श्रावक प्रशंसनीय हैं।



किसीको ऐसा लगे कि जंगलमें मुनिको अकेले-अकेले कैसे अच्छा लगता होगा? अरे भाई! जंगलमें भी निजानन्दमें झूलते हुए मुनि तो परम सुखी हैं; जगतके राग-द्वेषका कोलाहल वहाँ नहीं है; किसी परवस्तुके साथ आत्माका मिलन ही नहीं है; इसलिये परके सम्बन्ध रहित आत्मा स्वयमेव अकेला अपनेमें परम सुखी है। परके सम्बन्धसे आत्माको सुख है—ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने ऐसे आत्माका अनुभव करते हैं और उसीको उपादेय जानते हैं।

[ २१ ]

# जिनेन्द्र-भक्तिवंत श्रावक धन्य है!

श्रावक अगाढ़ जिनभक्तिसे जैनधर्मको शोभित करता है। शांत दशा प्राप्त धर्मी जीव किस प्रकारके होते हैं और वीतरागी देव-गुरुके प्रति उनकी भक्तिका उल्लास कैसा होता है उसका भी जीवोंको ज्ञान नहीं। इन्द्र जैसे भी भगवानके प्रति भक्तिसे कहते हैं कि हे नाथ! इस वैभव-विलासमें रहा हुआ हमारा यह जीवन कोई जीवन नहीं, सच्चा जीवन तो आपका है......केवलज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्दमय जीवनसे आप ही जी रहे हैं।

卐

काले दुःखमसंज्ञके जिनपतेधर्मे गते क्षीणतां
तुच्छे सामायिके जने बहुतरे मिथ्यान्धकारे सति।
चैत्ये चैत्यगृहे च भक्तिसहितो यः सोऽपि नो दृश्यते
यस्तत्कारयते यथाविधि पुनर्भव्यः स वंद्यः सताम् ॥ २१ ॥

इस दुःखमा कालमें जब कि जिनेन्द्र भगवानका धर्म क्षीण होता जाता है, जैन-धर्मके आराधक धर्मात्मा-जीव भी बहुत थोड़े हैं और मिथ्यात्व-अंधकार बहुत फैल रहा है, जिनमंदिर और जिन-प्रतिमाके प्रति भक्तिवन्त जीव भी बहुत नहीं दिखते; ऐसे इस कालमें जो जीव विधिपूर्वक जिनमन्दिर तथा जिन-प्रतिमा कराते हैं वे भव्य जीव सज्जनों द्वारा वंदनीय हैं।

जहाँ तीर्थंकर भगवान विराजते हैं वहाँ तो धर्मकी अविरत धारा चलती है, चक्रवर्ती और इन्द्र जैसे इस धर्मकी आराधना करते हैं। परन्तु वर्तमानमें तो यहाँ जैनधर्म बहुत घट गया है। तीर्थंकरोंका विरह, मुनिवरोंकी भी दुर्लभता, विपरीत मान्यताके पोषण करनेवाले मिथ्यामार्गोंका अन्त नहीं,—ऐसी विषमताके समूहके बीचमें भी जो जीव धर्मके

प्रेमको स्थिर रखकर भक्तिसे जिनमंदिर आदि वनवाते हैं वे धन्य हैं। स्तवनमें भी आता है कि—

चैत्यालय जो करें धन्य सो श्रावक कहिये,
तामें प्रतिमा धरें धन्य सो भी सरदहिये.

पूर्वमें तो भरत चक्रवर्ती सरीखेने भी कैलास पर्वत पर तीन चौवीसी तीर्थंकरोंके रत्नमय जिनविम्वोंकी स्थापना की थी। दूसरे भी अनेक वड़े-वड़े राजा-महाराजा और धर्मात्माओंने विशाल जिनमंदिर वनवाये थे। देखो तो, मूड़विद्रीमें "त्रिभुवनतिलक चूड़ामणि" जिनमन्दिर कितना वड़ा है! जिसके एक हजार तो स्तंभ हैं। और महामूल्य रत्नोंकी ३५ मूर्तियाँ भी वहाँ हैं, ये भी धर्मात्मा श्रावकोंने दर्शनहेतु स्थापी हैं। श्रवण-वेलगोलामें भी इन्द्रगिरि पहाड़में खुदी हुई ५७ फीट ऊँची वाहुवली भगवानकी प्रतिमा कितनी अद्‌भुत है। अहा, जैसे वीतरागतका पिण्ड हो! पवित्रता और पुण्य दोनों इसमें दिखाई दे रहे हैं। इस प्रकार श्रावक वहुत भक्तिसे जिनविम्व स्थापित और जिनमन्दिर निर्माण करता है। आजकल तो यहाँ अनार्यवृत्ति वाले वहुत और आर्यजीव थोड़े, उसमें भी जैन थोड़े, उसमें भी धर्मके जिज्ञासु वहुत थोड़े, और उनमें भी धर्मात्मा और साधु तो अत्यन्त विरले। वस्तुतः वे तीनोंकालमें विरल हैं परन्तु वर्तमानमें यहाँ तो वहुत ही विरले हैं। जहाँ देखो वहाँ कुदेव और मिथ्यात्वका जोर फैला हुआ है। ऐसे कलिकालमें भी जो जीव भक्तिपूर्वक जिनालय और जिनविम्वकी विधिपूर्वक स्थापना कराते हैं वे जिनदेवके भक्त, सम्यग्दृष्टि, धर्मके रुचिवंत हैं, और ऐसे धर्मी जीवोंकी सज्जन लोग प्रशंसा करते हैं।

देखो भाई, जिनमार्गमें वीतराग-प्रतिमा अनादिकी है। स्वर्गमें शाश्वत जिन-प्रतिमायें हैं, नन्दीश्वरमें हैं, मेरुपर्वत पर हैं। पांचसौ धनुषके रत्नमय जिनविम्व ऐसे अलौकिक हैं—मानों कि साक्षात् तीर्थंकर हों और अभी वाणी खिरेगी!! कार्तिक, फाल्गुन और अषाढ मासकी अष्टाह्निकामें इन्द्र और देव नन्दीश्वर जाकर महा भक्तिपूर्वक दर्शन-पूजन करते हैं। शास्त्रोंमें अनेक प्रकारके महापूजन कहे हैं—इन्द्र द्वारा पूजा हो वह इन्द्रध्वज पूजा है, चक्रवर्ती किमिच्छक दानपूर्वक राजाओंके साथ जो महापूजा करता है उसे कल्पद्रुम पूजा कहते हैं, अष्टाह्निकामें जो विशेष पूजा हो उसे आष्टाह्निक पूजन कहते हैं, मुकुटवद्ध राजा जो पूजन कराते हैं उसे सर्वतोभद्र अथवा महामहः पूजा कहते हैं, प्रतिदिन श्रावक जो पूजा करे वह नित्यमहः पूजन है।

भरत चक्रवर्ती महापूजन रचाते थे उसका विशद वर्णन आदिपुराणमें आता है।

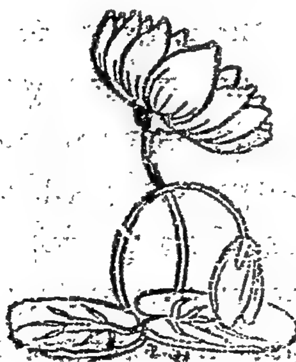
सूर्यके अन्दर शाश्वत जिनबिम्ब हैं, भरत चक्रवर्तीको चक्षु सम्बन्धी ज्ञानका इतना तीव्र क्षयोपशम था कि वे अपने महलमेंसे सूर्यमें रहे हुए जिनबिम्बका दर्शन करते थे। उस परसे प्रातः सूर्यदर्शनका रिवाज प्रचलित हो गया। लोग मूल वस्तुको भूल गये और सूर्यको पूजने लगे, शास्त्रोंमें स्थान-स्थान पर जिनप्रतिमाका वर्णन आता है। अरे, स्थानकवासी द्वारा माने हुए आगममें भी जिनप्रतिमाका उल्लेख आता है परन्तु वे उसका अर्थ विपरीत करते हैं। एक वार संवत् १९७८ में मैंने (पूज्य श्री कानजीस्वामीने) एक पुराने स्थानकवासी साधुसे पूछा कि इन शास्त्रोंमें जिन-प्रतिमाका तो वर्णन आता है,— क्योंकि "जिनके शरीर-प्रमाण ऊँचाई" ऐसी उपमा दी है, जो यह प्रतिमा यक्षकी हो तो जिन की उपमा नहीं देते।—तव उस स्थानकवासी साधुने यह वात स्वीकार की और कहा कि आपकी वात सत्य है—'है तो ऐसा ही'। तीर्थंकरकी ही प्रतिमा है; परन्तु वाहरमें ऐसा नहीं वोला जाता। तव ऐसा लगा कि अरे, यह क्या! अन्दर कुछ माने और वाह्यमें दूसरी वात कहे—ऐसा भगवानका मार्ग नहीं होता। इन जीवोंको आत्माकी दरकार नहीं; भगवानके मार्गकी दरकार नहीं; सत्यके शोधक जीव ऐसे सम्प्रदायमें नहीं रह सकते। जिनमार्गमें वीतराग मूर्तिकी पूजा अनादिसे चली आ रही है, वड़े-वड़े ज्ञानी भी उसे पूजते हैं। जिसने मूर्तिका निषेध किया उसने अनन्त ज्ञानियोंकी विराधना की है।

शास्त्रमें तो ऐसी कथा आती है कि जव महावीर भगवान् राजगृहीमें पधारे और श्रेणिक राजा उनकी वंदना करने जाते हैं तव एक मेंढक भी भक्तिसे मुँहमें फूल लेकर प्रभुकी पूजा करने जाता है; वह राहमें हाथीके पैरके नीचे दवकर मर जाता है और देवपर्यायमें उत्पन्न होकर तुरन्त भगवान्के समवशरणमें आता है। धर्मी जीव भगवान्के दर्शन करते हुए साक्षात् भगवान्को याद करता है कि अहो, भगवान्! अहो सीमन्धरनाथ! आप विदेहक्षेत्रमें हो और मैं यहाँ भरतक्षेत्रमें हूँ, आपके साक्षात् दर्शनका मुझे विरह हुआ! प्रभो ऐसा अवसर कव आवे कि आपका विरह दूर हो, अर्थात् राग-द्वेषका सर्वथा नाश करके आप जैसा वीतराग कव होऊँ! धर्मी ऐसी भावना द्वारा रागको तोड़ता है, अर्थात् भगवान्से वह क्षेत्र अपेक्षा दूर होते हुए भी भावसे समीप है कि हे नाथ! इस वैभव-विलासमें रचापचा हमारा जीवन यह कोई जीवन नहीं, वास्तविक जीवन तो आपका है; आप केवलज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्दमय जीवन जी रहे हो, वही सच्चा जीवन है। प्रभो, हमें भी यही उद्यम करना है। प्रभो, वह घड़ी धन्य है कि जव मैं मुनि होकर आपके जैसा केवलज्ञानका साधन करूँगा, ऐसा पुरुषार्थ नहीं जागता तव तक धर्मी जीव श्रावकधर्मका पालन करता है, और दान, जिनपूजा आदि कार्यों द्वारा वह अपने गृहस्थजीवनको सफल करता है।

वर्तमानमें तो मुनियोंकी दुर्लभता है, और मुनि हों तो भी वे कोई जिनमन्दिर बँधवाने या पुस्तक छपवाने जैसी प्रवृत्ति नहीं करते, वाह्यकी कोई प्रवृत्तिका भार मुनि अपने सिर पर नहीं रखते, ऐसा कार्य तो श्रावक ही करते हैं। उत्तम श्रावक प्रगाढ़ भक्ति सहित जिनमन्दिर बनावे, प्रतिष्ठा करावे, उसकी शोभा बढ़ावे, कहाँ क्या चाहिये; और किस प्रकार धर्मकी शोभा बढ़ेगी—ऐसा प्रगाढ़ भक्ति करता है।

चलो जिनमन्दिर दर्शन करने,
चलो प्रभुकी भक्ति करने,
चलो धर्मका महोत्सव करने,
चलो कोई तीर्थकी यात्रा करने.

—इस प्रकार श्रावक-श्राविका प्रगाढ़ भक्तिसे जैनधर्मको शोभित करे। अहा, शान्त दशाको प्राप्त धर्मी जीव कैसा होता है और वीतरागी देव-गुरुकी भक्तिका उसे उल्लास कैसा होता है उसकी भी जीवोंको खबर नहीं। पूर्व समयमें तो वृद्ध-युवा, बहिनें और बालक सभी धर्मप्रेमी थे और धर्म द्वारा अपनी शोभा मानते थे। इसके बदले वर्तमानमें तो सिनेमाका शौक बढ़ा है और स्वच्छन्द फूट पड़ा है। ऐसे विषमकालमें भी जो जीव जिनभक्ति वाला है, धर्मका प्रेमी है और जिनमन्दिर आदि बनवाता है—ऐसे श्रावक धन्य हैं!



[२२]

# सच्ची जिनभक्तिमें वीतरागताका आदर

धर्मीके थोड़े शुभभावका भी महान फल है—तो इसकी शुद्धताकी महिमाकी तो क्या बात! जिसे अन्तरमें वीतरागभाव रुचा उसे वीतरागताके बाह्य निमित्तोंके प्रति भी कितना उत्साह हो! जिनमंदिर बनवानेकी बात तो दूर रही परन्तु वहाँ दर्शन करने जानेका भी जिसे अवकाश नहीं—उसे धर्मका प्रेम कौन कहे?

वीतरागी जिनमार्गके प्रति श्रावकका उत्साह कैसा होता है और उसका फल क्या होता है वह कहते हैं—

बिम्बादलोन्नति यवोन्नतिमेव भक्त्या
ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं च
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता
स्तोतुं परस्य किमु कारयितुः द्वयस्य ॥ २२ ॥

जो जीव भक्तिसे बेलके पत्र जितना छोटा जिनमंदिर बनवाता है और जो जौके दाने जितनी जिन-आकृति (जिनप्रतिमा) स्थापित कराता है उसके महान पुण्यका वर्णन करनेके लिये इस लोकमें सरस्वती (-वाणी) भी समर्थ नहीं; तो फिर जो जीव यह दोनों कराता है, अर्थात् ऊँचे-ऊँचे जिनमन्दिर बनवाता है और अतिशय भव्य जिनप्रतिमा स्थापित करवाता है—उसके पुण्यकी तो क्या बात!

देखो, इसमें "भक्तिपूर्वक"की मुख्य बात है। मात्र प्रतिष्ठा अथवा मान-सन्मानके लिये अथवा देखादेखीसे कितने ही पैसे खर्च कर दे उसकी यह बात नहीं, परन्तु भक्ति-पूर्वक अर्थात् जिसे सर्वज्ञ भगवानकी कुछ पहचान हुई है और अन्तरमें बहुमान पैदा हुआ है कि अहो, ऐसे वीतरागी सर्वज्ञदेव! ऐसे भगवानको मैं अपने अन्तरमें स्थापित

करूँ और संसारमें भी इनकी प्रसिद्धि हो—ऐसे बहुमानसे भक्तिभावपूर्वक जिन-प्रतिमा और जिन-मन्दिर बनवानेका भाव जिसे आता है उसे उच्च जातिका लोकोत्तर पुण्य बँधता है; क्योंकि उसके भावोंमें वीतरागताका बहुमान हुआ है।—पश्चात् भले ही प्रतिमा मोटी हो या छोटी, परन्तु उसकी स्थापनामें वीतरागताका बहुमान और वीतरागका आदर है, यही उत्तम पुण्यका कारण है।

भगवानकी मूर्तिको यहाँ "जिनाकृति" कहा है अर्थात् अरहन्त-जिनदेवकी जैसी निर्विकार आकृति होती है वैसी ही निर्दोष आकृतिवाली जिन-प्रतिमा होती है। जिनेन्द्र भगवान् वस्त्र-मुकुट नहीं पहिनते और इनकी मूर्ति वस्त्र-मुकुट सहित हो तो इसे जिनाकृति नहीं कहते। "जिन-प्रतिमा जिनसारखी भाखी आगम माँय।"—ऐसी निर्दोष प्रतिमा जिनशासनमें पूज्यनीय है।

यहाँ तो कहते हैं कि अहो, जो जीव भक्तिसे ऐसा वीतराग जिनबिम्ब और जिन-प्रतिमा कराता है उसके पुण्यकी महिमा वाणीसे कैसे कही जा सकती है? देखो तो सही, धर्मीके अल्प शुभभावका इतना फल! तो इसकी शुद्धताकी महिमाका तो क्या बात!! जिसे अन्तरमें वीतरागभाव रुचा उसे वीतरागताके बाह्य निमित्तोंके प्रति भी कितना उत्साह हो? एक उदाहरण इस प्रकार आता है कि—एक सेठ जिनमन्दिर बनवाता था, उसमें काम करते हुए पत्थरकी जितनी रज कारीगर द्वारा निकाली जाती उसके वजनके बराबर चाँदी देता था। सेठके मनमें ऐसा भाव था कि अहो, मेरे भगवानका मन्दिर बन रहा है तो उसमें कारीगरोंको भी मैं प्रसन्न करूँ,—जिससे मेरे मन्दिरका काम उत्तम हो। उस समयके कारीगर भी सच्चे हृदयवाले थे। वर्तमानमें तो लोगोंकी वृत्तिमें बहुत फेरफार हो गया है। यहाँ तो भगवानके भक्त श्रावक-धर्मात्माको जिन-मन्दिर और जिन-प्रतिमाका कैसा शुभराग होता है वह बतलाया है।

संसारमें देखो तो, पाँच-दस लाख रुपयोंकी कमाई हो और लाख-दो लाख रुपये खर्च करके बंगला बनवाता हो तो कितनी होंश करता है? कहाँ क्या चाहिये और किस प्रकार अधिक शोभा हो—इसका कितना विचार करता है? इसमें तो ममताका पोषण है। परन्तु धर्मात्माको ऐसा विचार आता है कि अहो, मेरे भगवान जिसमें विराजें ऐसा जिनमन्दिर, उसमें क्या-क्या चाहिये और किस रीतिसे अधिक शोभित हो?—इस प्रकार विचार करके होंशसे (तनसे, मनसे, धनसे) उसमें वर्तन करता है। वहाँ व्यर्थकी झूठी करकसर अथवा कंजूसाई नहीं करता। भाई, ऐसे धर्मकार्यमें तू उदारता रखेगा तो तुझे ऐसा लगेगा कि मैंने जीवनमें धर्मके लिये कुछ किया है, एकमात्र पापमें ही जिन्दगी नहीं

बिगाड़ी, परन्तु धर्मकी तरफके कुछ भाव किये हैं—इस प्रकार तुझे धर्मके बहुमानका भाव रहा करेगा। इसका ही लाभ है और ऐसे भावके साथमें जो पुण्य बँधता है वह भी लौकिक दया-दानकी अपेक्षा उच्च कोटिका होता है। एक मकान बाँधनेवाला कारीगर जैसे-जैसे मकान ऊँचा होता जाता है वैसे-वैसे वह भी ऊँचा चढ़ता जाता है, उसी प्रकार धर्मी जीव जैसे-जैसे शुद्धतामें आगे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसके पुण्यका रस भी बढ़ता जाता है।

जिन-मन्दिर और जिन-प्रतिमा करानेवालेके भावमें क्या है?—इसके भावमें वीतरागताका आदर है और रागका आदर छूट गया है। ऐसे भावसे करावे तो सच्ची भक्ति कहलाती है; और वीतरागभावके बहुमान द्वारा वह जीव अल्पकालमें रागको तोड़कर मोक्ष प्राप्त करता है। परन्तु, यह बात लक्ष्यमें लिये बिना, ऐसे ही कोई कह दे कि तुमने मन्दिर बनवाया इसलिये ८ भवमें तुम्हारा मोक्ष हो जावेगा, यह बात सिद्धान्तकी नहीं है। भाई, श्रावकको ऐसा शुभभाव होता है यह बात सत्य है, परन्तु इस रागकी जितनी हद हो उतनी रखनी चाहिये। इस शुभ रागके फलसे उच्च कोटिका पुण्य बँधनेका कहा है परन्तु उससे कर्मक्षय होनेका भगवानने नहीं कहा है। कर्मका क्षय तो सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे ही कहा है।

अरे, सच्चा मार्ग और सच्चे तत्त्वको समझे बिना जीव कहाँ अटक जाता है। शास्त्रमें व्यवहारके कथन तो अनेक प्रकारके आते हैं, परन्तु मूल तत्त्वको और वीतराग-भावरूप मार्गको लक्ष्यमें रखकर इसका अर्थ समझना चाहिये। शुभरागसे ऊँचा पुण्य बँधता है—ऐसा बतलानेके लिये उसकी महिमा की, वहाँ कोई उसमें ही धर्म मानकर अटक जाता है। अन्य कितने ही जीव तो भगवानका जिन-मंदिर होता है वहाँ दर्शन करने भी नहीं जाते। भाई, जिसे वीतरागताका प्रेम होता है और जहाँ जिन-मंदिरका योग हो वहाँ वह भक्तिसे रोज दर्शन करने जाता है। जिन-मंदिर बनवानेकी बात तो दूर रही, परन्तु वहाँ दर्शन करने जानेका भी जिसे अवकाश नहीं उसे धर्मका प्रेम कौन कहे? बड़े-बड़े मुनि भी वीतराग प्रतिमाका भक्तिसे दर्शन करते हैं और उसकी स्तुति करते हैं। पोन्नूर ग्राममें एक पुराना मंदिर है, कुन्दकुन्दाचार्यदेव ग्राममें आये तब वे वहाँ दर्शन करने जाते थे। (संवत् २०२० की यात्रामें आपने वह मंदिर देखा है) समन्तभद्र-स्वामीने भी भगवानकी अद्‌भुत स्तुति की है। २००० वर्ष पूर्व किसी बड़े राजाको जिन-बिम्ब-प्रतिष्ठा करवानी थी तब उसकी विधिके लिये शास्त्र रचनेकी आज्ञा कुन्दकुन्दा-चार्यदेवने अपने शिष्य जयसेन मुनिको दी, उन जयसेनस्वामीने मात्र दो दिनमें प्रतिष्ठा-

पाठ की रचना की, इसलिये कुन्दकुन्दाचार्यदेवने उन जयसेनस्वामीको "वसुबिन्दु" (अर्थात् आठ कर्मोंका अभाव करने वाले) ऐसा विशेषण दिया, उनका रचा प्रतिष्ठा-पाठ "वसुबिन्दु" प्रतिष्ठा-पाठ कहलाता है। उसके आधारसे प्रतिष्ठा की विधि होती है। बड़े-बड़े धर्मात्माओं-को जिनभगवानकी प्रतिष्ठाका, उनके दर्शनका ऐसा भाव आता है, और तू कहता है कि मुझे दर्शन करनेका अवकाश नहीं मिलता अथवा मुझे पूजा करते शर्म आती है!—तो तुझे धर्मकी रुचि नहीं, देव-गुरुका तुझे प्रेम नहीं। पापके काममें तुझे अवकाश मिलता है और यहाँ तुझे अवकाश नहीं मिलता—यह तो तेरा व्यर्थका बहाना है। और जगत्के पापकार्यों—कालाबाजार आदिके करनेमें तुझे शर्म नहीं आती और यहाँ भगवानके समीप जाकर पूजा करनेमें तुझे शर्म आती है!! वाह, बलिहारी है तेरी औंधाई की! शर्म तो पापकार्य करनेमें आनी चाहिये, उसके बदले वहाँ तो तुझे होंश आती है और धर्मके कार्यमें शर्म आनेका कहता है,—परन्तु वास्तवमें तुझे धर्मका प्रेम ही नहीं है। एक राजाकी कथा आती है कि—राजा राजदरबारमें आ रहा था वहाँ बीचमें किन्हीं मुनिराजके दर्शन हुवे, वहाँ भक्तिसे राजाने उनके चरणमें मुकुटबद्ध सिर झुकाया......और पश्चात् राजदरबारमें आया। वहाँ दीवानने मुकुट पर धूल लगी देखी और वह उसे झाड़ने लगा। तब राजा उसे रोककर कहते हैं कि—दीवानजी रहने दो......इस रजसे तो मेरे मुकुटकी शोभा है, यह रज तो मेरे वीतराग गुरुके चरणसे पवित्र हुई है!—देखो, यह भक्ति!! इसमें उसे शर्म नहीं आती कि अरे, मेरे बहुमूल्य मुकुटमें धूल लग गई!—अथवा अन्य मेरी हाँसी उड़ावेंगे! अरे, भक्तिमें शर्म कैसी? भगवानके भक्तको भगवानके दर्शन बिना चैन नहीं। यहाँ (सोनगढ़में) पहले जिन-मन्दिर नहीं था, तब भक्तोंको ऐसा विचार आया कि अरे, अपनेको यहाँ भगवानका विरह हुआ है. उनके तो साक्षात् दर्शन नहीं और उनकी प्रतिमाके भी दर्शन नहीं!—इस प्रकार दर्शनकी भावना उत्पन्न हुई। उस परसे संवत् १९९७ में यह जिन-मन्दिर बना। आचार्यदेव कहते हैं कि अहो, भगवानके दर्शनसे किसे प्रसन्नता न हो! और उनका जिन-मन्दिर तथा जिन-प्रतिमा स्थापन करावे उसके पुण्यकी क्या बात!! भरत चक्रवर्ती जैसोंने पांच-पांचसौ धनुषकी ऊँची प्रतिमाएँ स्थापित करवाई थीं, उनकी शोभाकी क्या बात!! वर्तमानमें भी देखिये—बाहुबली भगवानकी मूर्ति कैसी है! अहा, वर्तमानमें तो इसकी कहीं जोड़ नहीं। नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती महान मुनि थे, उनके द्वारा इसकी प्रतिष्ठा हुई है: और इसके सामनेकी पहाड़ी (चन्द्रगिरि) पर एक जिनालयमें उन्होने गोम्मटसारकी रचना की थी। बाहुबली भगवानकी यह प्रतिमा गोमटेश्वर भी कहलाती है। यह तो सत्तावन फीट ऊँची है और इसका अचिन्त्य दर्शन

है...पुण्य और पवित्रता दोनोंकी झलक उनकी मुद्रा ऊपर चमकती है। और बाहुबली भगवानकी अन्य एक अत्यन्त छोटी (चनेके दाने बराबर) रत्नप्रतिमा मूलबिद्रीमें है। —ऐसी प्रतिमा करवानेका उत्साह श्रावक-धर्मात्माओंको आता है ऐसा यहाँ बताना है।

देखो, यह किसकी बात चलती है? यह श्रावकके धर्मकी बात चलती है। आत्मा रागरहित शुद्धचैतन्यस्वरूप है, उसकी रुचि करके राग घटानेका अन्तरप्रयत्न वह गृहस्थ-धर्मका प्रकाश करनेवाला मार्ग है। उसमें दानके वर्णनमें जिन-प्रतिमा करानेका विशेष वर्णन किया है। जिस प्रकार, जिसे धन प्रिय है वह धनवानका गुणगान करता है, उसी प्रकार जिसे वीतरागता प्रिय है वह भक्तिपूर्वक वीतरागदेवके गुणगान करता है; उनके विरहमें उनकी प्रतिमामें स्थापना करके दर्शन-स्तुति करता है। इस प्रकार शुद्धस्वरूपकी दृष्टि रखकर, अशुभ स्थानोंसे बचता है, ऐसा श्रावक-भूमिकाका धर्म है।

कोई कहे कि शुद्धता वह मुनिका धर्म, और शुभराग वह श्रावकका धर्म—तो ऐसा नहीं। धर्म तो मुनिको अथवा श्रावकको दोनोंको एक ही प्रकारका रागरहित शुद्धपरिणतिरूप ही है। परन्तु श्रावकको अभी शुद्धता अल्प है वहाँ रागके भेद जिनपूजा, दान आदि होते हैं, इसलिये शुद्धताके साथके इन शुभकार्योंको भी गृहस्थके धर्मरूपसे वर्णन किया है; अर्थात् इस भूमिकामें ऐसे शुभभाव होते हैं।

देखिये, नग्न-दिगम्बर सन्त, वनमें बसनेवाले और स्वरूपकी साधनामें छठवें-सातवें गुणस्थानमें झूलनेवाले मुनिको भी भगवानके प्रति कैसे भाव उल्लसित होते हैं! वे कहते हैं कि—छोटा-सा मन्दिर बनावे और उसमें जौके दाने जितनी जिन-प्रतिमाकी स्थापना करे-उस श्रावकके पुण्यकी अपूर्व महिमा है! अर्थात् उसे वीतरागभाव की जो रुचि हुई है उसके महान फलकी क्या बात! प्रतिमा चाहे छोटी हो-परन्तु वह वीतरागताका प्रतीक है ना! इसकी स्थापना करने वालेको वीतरागका आदर है, उसका फल महान है। कुन्दकुन्दस्वामी तो कहते हैं कि—अरहन्तदेवको बराबर पहचाने तो सम्यग्दर्शन हो जावे। जिसे वीतरागता प्रिय लगी, जिसे सर्वज्ञस्वभाव रुचा, उसे सर्वज्ञ-वीतरागदेवके प्रति परमभक्तिका उल्लास आता है। इन्द्र जैसे भी देवलोकसे उतरकर समवसरणमें आ-आकर तीर्थंकर प्रभुके चरणोंकी सेवा करते हैं...हजार-हजार आँखसे प्रभुको देखते हैं—तो भी उनकी तृप्ति नहीं होती। अहो, आपकी वीतरागी शान्त मुद्रा देखा ही करें ऐसा लगता है! गृहस्थकी भूमिकामें ऐसे भावोंसे ऊँची जातिका पुण्य बँधता है, इसे राग तो है, परन्तु रागकी दिशा संसारकी तरफसे हटकर धर्मकी तरफ हो गई है, इसलिये वीतरागताकी भावना खूब घुटती रहती है। अहा, भगवान् स्वरूपमें ठहर गये

लगते हैं, ज्ञाता-दृष्टापनेसे जगत्‌को साक्षीरूप देख रहे हों और उपशम-रसकी धारा बरस रही हो-ऐसी भाववाही जिन-प्रतिमा होती है।—ऐसी निर्विकार वीतराग जिनमुद्राका दर्शन वह अपने वीतरागस्वभावके स्मरण और ध्यानका निमित्त है।

धर्मीका ध्येय वीतरागता है। जिस प्रकार चतुर किसान चारेके लिये नहीं बोता परन्तु अनाज हेतु बोता है; अनाजके साथ चारा भी बहुत होता है। उसीप्रकार धर्मीका प्रयत्न वीतरागताके लिये है राग हेतु नहीं। चैतन्यस्वभावकी दृष्टिपूर्वक शुद्धताको साधते-साधते बीचमें पुण्यरूपी ऊँचा घास भी बहुत पकता है। परन्तु इस घासको कोई मनुष्य नहीं खाता; मनुष्य तो अनाज खाते हैं; उसीप्रकार धर्मी जीव रागको अथवा पुण्यको आदरणीय नहीं मानता है, वीतरागभावको ही आदरणीय मानता है। देखो, इसमें दोनों बातें इकट्ठी हैं, श्रावककी भूमिकामें राग कैसा होता है और धर्म कैसा होता है—इन दोनोंका स्वरूप इसमें आ जाता है।

ज्ञानीको धर्म सहित जो पुण्य होता है वह ऊँची जातिका होता है; अज्ञानीका पुण्य बिना सारवाला होता है, उसकी पर्यायमें धर्मका दुष्काल है। जिस प्रकार उत्तम अनाजके साथ जो घास पकता है वह घास भी पुष्टिकर होता है; दुष्कालमें अनाज बिना अकेला घास पकता है उसमें बहुत पुष्टि नहीं होती; उसीप्रकार जहाँ धर्मका दुष्काल है वहाँ पुण्य भी हलका होता है, और धर्मकी भूमिकामें पुण्य भी ऊँची जातिका होता है। तीर्थंकरपना, चक्रवर्तीपना, इन्द्रपना आदिका लोकोत्तर पुण्य धर्मकी भूमिकामें ही बँधता है। गृहस्थोंको जिन-मंदिर, जिनबिम्ब बनवानेसे तथा आहारदान आदिसे महान पुण्य बँधता है, इसीलिये मुनिराजने उसका उपदेश दिया है। अविकृत स्वरूपके आनन्दमें झूलनेवाले संत—प्राण जावें तो भी जो झूठ नहीं बोलें, और इन्द्राणी आकाशसे उतर आवे तो भी अशुभवृत्ति जिन्हें नहीं उठे—ऐसे वीतरागी मुनिका यह कथन है, जगत्‌के पाससे इन्हें एक कण भी नहीं चाहिये, मात्र जगत्‌के जीवोंको लोभरूपी पापके कुएँसे निकालने और धर्ममें लगाने हेतु करुणापूर्वक उपदेश दिया है। जिसका पत्थर जैसा हृदय होवे उसकी भिन्न बात है, परन्तु फूलकी कली जैसा कोमल जिसका हृदय हो उसे तो इस वीतरागी उपदेशकी गुँजार सुनते ही प्रसन्नता हो उठेगी; जिनेन्द्र-भक्तिवंत तो आनन्दित होगा। परन्तु जिस प्रकार उल्लूको अथवा घुग्घूको सूर्यका प्रकाश अच्छा नहीं लगता है, उसे तो अँधेरा अच्छा लगता है, उसी प्रकार चैतन्यका प्रकाश करनेवाला यह वीतरागी उपदेश जिसे नहीं रुचता वह भी मिथ्यात्वके घोर अंधकारमें पड़ा हुआ है। जिज्ञासुको तो ऐसा उल्लास आता है कि अहो, यह तो मेरे चैतन्यका प्रकाश करनेवाली अपूर्व बात है! तीन लोकके नाथ जिनदेव जिसमें विराजमान होते हैं उसकी शोभा हेतु

धर्मी भक्तोंको उल्लास होता है। वादिराज स्वामी कहते हैं—प्रभो! आप जिस नगरीमें अवतार लेते हैं वह नगरी सोनेकी हो जाती है, तो ध्यान द्वारा मैंने मेरे हृदयमें आपको स्थापित किया और यह शरीर विना रोगके सोने जैसा न होवे यह कैसे हो सकता है? और आपको आत्मामें विराजमान करते ही आत्मामेंसे मोहरोग नष्ट होकर शुद्धता न होवे यह कैसे बने?

धर्मी श्रावकको, उसीप्रकार धर्मके जिज्ञासु जैनको ऐसा भाव आता है कि अहो, मैं मेरे वीतरागस्वभावके प्रतिविम्बरूप इस जिनमुद्राको प्रतिदिन देखूँ। जिस प्रकार माताको विना पुत्रके चैन न पड़े उसीप्रकार भगवानके विरहमें भगवानके दर्शन विना भगवानके पुत्रोंको—भगवानके भक्तोंको चैन नहीं पड़ता। चेलना रानी श्रेणिक राजाके राज्यमें आई परन्तु श्रेणिक तो बौद्ध धर्मको मानता था, इसलिये उसे वहाँ जैनधर्मकी छटा नहीं दिखी, इस कारण चेलनाको किसी प्रकार चैन नहीं पड़ा, आखिरमें राजाको समझाकर बड़े-बड़े जिन-मंदिर बनवाए और श्रेणिक राजाको भी जैनधर्म ग्रहण करवाया। इसीप्रकार हरिषेण चक्रवर्तीकी भी कथा आती है।—इनकी माता जिनदेवकी विशाल रथयात्रा निकालनेकी मांग करती रहीं परन्तु दूसरी रानियोंने उस रथको रुकवा दिया इसलिये हरिषेणकी माताने अनशनकी प्रतिज्ञा ली थी कि मेरे जिनेन्द्र भगवानका रथ धूमधामसे निकलेगा तभी मैं आहार लूंगी।—आखिरमें उसके पुत्रने चक्रवर्ती होकर बड़ा धूमधामसे भगवानकी रथयात्रा निकाली। अकलंक स्वामीके समयमें भी ऐसी ही बात हुई और उन्होंने बौद्ध गुरुको वाद-विवादमें हराकर भगवानकी रथयात्रा निकलवायी और जैनधर्मकी बहुत प्रभावना की। (इन तीनोंके—चेलनारानी, हरिषेण चक्रवर्ती और अकलंक स्वामीके धार्मिक नाटक सोनगढ़में हो चुके हैं।) इस प्रकार धर्मी श्रावक भक्तिपूर्वक जिन-शासनकी प्रभावना करते हैं, जिन-मंदिर बंधवाते हैं, वीतराग जिनविम्बकी स्थापना करते हैं और इसके कारण उन्हें अतिशय पुण्य बँधता है। चाहे छोटीसी वीतराग प्रतिमा हो परन्तु स्थापनामें त्रैकालिक वीतरागमार्गका आदर है। इस मार्गके आदरसे ऊँचा पुण्य बँधता है।—इस प्रकार जिनदेवके भक्त धर्मी-श्रावक अत्यन्त बहुमानसे जिन-मंदिर तथा जिन-विम्बकी स्थापना कराते हैं वह बात कही तथा उसका उत्तम फल बतलाया।

जहाँ जिन-मन्दिर होता है वहाँ सदैव धर्मके नये-नये मंगल-उत्सव होते रहते हैं; वह बात अब अगली गाथामें कहेंगे।

---

# [ २३ ]

# श्रावककी धर्मप्रवृत्तिके विविध प्रकार

धर्मी जीवको घरकी शोभाकी अपेक्षा जिन-मन्दिरकी शोभाका अधिक उत्साह होता है; सर्व प्रकारसे संसारकी ओरका प्रेम कम करके धर्मके प्रेमको वह बढ़ाता है। मात्र किसी कुलके जन्म लेनेसे श्रावकपना नहीं होता, परन्तु सर्वज्ञकी पहिचान और स्वसन्मुखता पूर्वक श्रावकधर्मका आचरण करनेसे श्रावकपना होता है। जहाँ धर्मके उत्सवके लिये रोज दान होता है, जहाँ मुनि आदि धर्मात्माओंका आदर होता है वह गृहस्थाश्रम शोभा पाता है, इसके विना श्रावकपना शोभा नहीं पाता।

जहाँ जिन-मन्दिर हो वहाँ श्रावक हमेशा भक्तिसे नये-नये उत्सव करता है, उसका वर्णन करते हैं—

यात्राभिः स्नपनैर्महोत्सवशतैः पूजाभिरुल्लोचकैः
नैवेद्यैर्बलिभिर्ध्वजैश्च कलशैः तूर्यत्रिकैर्जागरैः।
घंटाचामरदर्पणादिभिरपि प्रस्तार्य शोभां परां
भव्याः पुण्यमुपार्जयन्ति सततं सत्यत्र चैत्यालये ॥ २३ ॥

इस जगतमें जहाँ चैत्यालय हो वहाँ भव्य जीव रथयात्रा निकाले; भगवानका कलशाभिषेक आदि सैकड़ों प्रकारके बड़े-बड़े उत्सव करे, अनेक प्रकारके पूजनादि करे, चाँदनी-चँदेवा-तोरण चढ़ावे, नैवेद्य तथा अन्य भेंट चढ़ावे; ध्वज, कलश, तूर्यत्रिक अर्थात् गीत-नृत्य-साज, जागरण, घंटा, चँवर तथा दर्पण आदि द्वारा उत्कृष्ट शोभाका विस्तार करे;—इस प्रकार निरन्तर पुण्यका उपार्जन करता है।

देखो, जहाँ धर्मके प्रेमी श्रावक हों वहाँ जिन-मन्दिर होता है, और जहाँ मन्दिर हो वहाँ प्रतिदिन मंगल-महोत्सव होते रहते हैं। किसी समय मन्दिरकी वर्षगाँठ हो, भगवानके कल्याणकका प्रसंग हो, पर्युषण हो, अष्टाह्निका-पर्व हो—ऐसे अनेक प्रसंगोंमें धर्मी जीव

भगवानके मंदिरमें पूजा-भक्तिका उत्सव करावे। इस बहाने दानादिमें अपना धन खर्च करके शुभभाव करे और रागको घटावे। जो कि वीतरागभगवान तो कुछ नहीं देते और कुछ नहीं लेते, पूजा करने वालेके प्रति अथवा निन्दा करने वालेके प्रति उन्हें तो वीतरागभाव ही वर्तता है, परन्तु भक्तको जिन-मंदिरकी शोभा आदिका उल्लासभाव आये बिना नहीं रहता। अपने घरकी शोभा बढ़ानेका भाव कैसे आता है?—उसी प्रकार धर्मीको धर्मप्रसंगमें जिन-मन्दिरकी शोभा किस प्रकार बढ़े,—ऐसा भाव आता है। श्रावक अत्यन्त भक्तिसे शुद्ध जल द्वारा भगवानका अभिषेक करे तब उसे ऐसा भाव उल्लसित होवे कि मानों साक्षात् अरहन्तदेवका ही स्पर्श हो रहा हो। जिस प्रकार पुत्रके लग्न आदि प्रसंगमें उत्सव करता है और मंडपकी तथा घरकी शोभा कराता है, उसकी अपेक्षा अधिक उत्साहसे धर्मी जीव धर्मकी शोभा और उत्साह करावे।—जहाँ मन्दिर हो और जहाँ धर्मी श्रावक हो वहाँ बारम्बार आनन्द-मंगलके ऐसे प्रसंग बना करें, और घरके छोटे बच्चोंमें भी धर्मके संस्कार पड़ें।

धर्मके लिये जो अनुकूल न हो अथवा धर्मके लिये जो बाधाकारक लगे ऐसे देशको, ऐसे संयोगको धर्मी जीव छोड़ दे। जहाँ जिन-मन्दिर आदि हो वहाँ धर्मात्मा रहे, और वहाँ नये-नये मंगल-उत्सव हुआ करें। और कोई विशेष प्रकारका जिनमन्दिर अथवा जिनप्रतिमा हो वहाँ यात्रा करनेके लिये अनेक श्रावक आवें; तथा सम्मेदशिखर, गिरनार आदि तीर्थोंकी यात्रा भी श्रावक करे,–इस प्रकार वह मोक्षगामी सन्तोंको याद करता है। किसी समय मन्दिरकी वर्षगाँठ हो, किसी समय मन्दिरको दस अथवा पच्चीस अथवा सौ वर्ष पूरे होते हों तो वह उसका उत्सव करे; कोई बड़े संत–महात्मा मुनि आदि पधारें तब उत्सव करे, पुत्र–पुत्रीके लग्नोत्सव–जन्मोत्सव आदिके निमित्त भी मंदिरमें पूजनादिसे शोभा करावे, रथयात्रा निकलवाये,—इस प्रकार प्रत्येक प्रसंगमें गृहस्थधर्मको याद किया करे। कोई नया महान् शास्त्र आवे तब उसके बहुमानका उत्सव करे। शास्त्र अर्थात् जिनवाणी, वह भी भगवानकी तरह ही पूज्य है। अपने घरको जैसे तोरण आदिसे शृँगारित करता है और नये-नये वस्त्र लाता है उसी प्रकार जिन-मन्दिरके द्वारको भाँति-भाँतिके तोरण आदिसे शृँगारित करे और नये-नये चंदोवा आदिसे शोभा बढ़ावे। इस प्रकार श्रावकके रागकी दशा बदल गई है; साथ ही साथ वह यह भी जानता है कि यह राग पुण्यास्रवका कारण है, और जितनी वीतरागी शुद्धता है उतना ही मोक्षमार्ग है।

जिन-मन्दिरके ऊपर कलश तथा ध्वज चढ़वानेका भी महान उत्सव होता है। पूर्व समयमें तो शिखरमें भी कीमती रत्न लगवाते थे, जगमगाते थे। नये-नये वीतरागी

चित्रों द्वारा मन्दिरकी शोभा करे—इस प्रकार श्रावक सर्व प्रकारसे संसारका प्रेम कम करके धर्मका प्रेम बढ़ाता है। जिसे वीतरागमार्गके प्रति प्रेम उल्लसित हुआ है उसे ऐसे भाव श्रावकदशामें आते हैं। इस धूलके ढेर जैसा शरीरका फोटो किस प्रकार निकलवाता है? और कितने प्रेमसे देखता है और शृंगार करता है? तो वीतराग जिनबिम्ब वीतराग-भगवानका फोटो है, परमात्मदशा जिसे प्रिय हो उसे इनके प्रति प्रेम और उल्लास आता है।

केवल कुल विशेषमें जन्म लेनेसे श्रावकपना नहीं हो जाता, परन्तु सर्वज्ञकी पहिचानपूर्वक श्रावकधर्मका आचरण करनेसे श्रावकपना होता है। समयसारमें जिस प्रकार एकत्व-विभक्त शुद्धात्मा बतलाया है उस प्रकार शुद्ध आत्माकी पहिचानपूर्वक सम्यक्‌दर्शन होवे तो श्रावकपना शोभा देता है। सम्यग्दर्शनके बिना श्रावकपना शोभा नहीं देता। निर्विकल्प अनुभूति सहित सम्यग्दर्शन होवे उसके बाद आनन्दकी अनुभूति और स्वरूपस्थिरता बढ़ जानेसे अप्रत्याख्यान कषायोंका भी अभाव होता है,—ऐसी आंशिक अरागी दशा होवे उसका नाम श्रावकपना है। और उस भूमिकामें जो राग बाकी है उसमें जिनेन्द्रदर्शन-पूजन, गुरुसेवा, शास्त्रस्वाध्याय, दान, अणुव्रत आदि होते हैं,—इसलिये वह भी व्यवहारसे श्रावकका धर्म है। ऐसे श्रावकधर्मका यह प्रकाशन है।

वर्तमानमें तीर्थंकर भगवान साक्षात् नहीं हैं परन्तु उनकी वाणी तो है, इस वाणीसे भी बहुत उपकार होता है, इसलिये उस वाणीकी (शास्त्रकी) भी प्रतिष्ठा की जाती है। और भगवानकी मूर्ति समक्ष देखनेसे ऐसा लगता है मानो साक्षात् भगवान मेरे सामने ही विराज रहे हैं—इस प्रकार अपने ज्ञानमें भगवानको प्रत्यक्ष करके साधकको भक्ति-भाव उल्लसित होता है। प्रतिदिन भगवानका अभिषेक करते समय प्रभुका स्पर्श होने पर श्रावक महान हर्ष मानता है कि अहो, आज मैंने भगवानके चरण स्पर्श किये, आज भगवानकी चरण सेवाका परम सौभाग्य मिला।—इस प्रकार धर्मात्माके हृदयमें भगवानके प्रति प्रेम उमड़ता है। मन्दिरमें भगवानके पाससे घर जाना पड़ता है वहाँ इसे अच्छा नहीं लगता, उसे लगता है कि भगवानके पास ही बैठा रहूँ। भगवानकी पूजा आदिके बर्तन भी उत्तम होवें; घरमें तो अच्छे बर्तन रखे और पूजन करने हेतु मामूली बर्तन ले जावे-ऐसा नहीं होता। इस प्रकार श्रावकको तो चारों ओरसे सभी पहलुओंका विवेक होता है। साधर्मियों पर भी उसे परम वात्सल्यभाव होता है।

जिसे वीतरागस्वभावका भान हुआ है और मुनिदशाकी भावना वर्तती है ऐसे जीवका यह वर्णन है। उसके पहले जिज्ञासु भूमिकामें भी यह बात यथायोग्य समझ

लेना चाहिये। धर्मके उत्सवमें जो भक्तिपूर्वक भाग नहीं लेता, जिसके घरमें दान नहीं होता उसे शास्त्रकार कहते हैं कि भाई! तेरा गृहस्थाश्रम शोभा नहीं पाता। जिस गृहस्थाश्रममें रोज-रोज धर्मके उत्सव हेतु दान होता है, जहाँ धर्मात्माका आदर होता है वह गृहस्थाश्रम शोभा पाता है और वह श्रावक प्रशंसनीय है। अहा! शुद्धात्माको दृष्टिमें लेते ही जिसकी दृष्टिमेंसे सभी राग छूट गया है उसके परिणाममें रागकी कितनी मन्दता होती है और यह मन्द राग भी सर्वथा छूटकर वीतरागता होवे तब केवलज्ञान और मुक्ति होती है।—ऐसे मोक्षका जो साधक हुआ है उसे रागका आदर कैसे होवे? अपने वीतरागस्वभावका जिसे भान है वह सामने वीतरागबिम्बको देखते ही साक्षात्की तरह ही भक्ति करता है, क्योंकि इसने अपने ज्ञानमें तो भगवान साक्षात्‌रूप देखे हैं ना!

श्रावकको स्वभावके आनन्दका अनुभव हुआ है, स्वभावके आनन्दसागरमें एकाग्र होकर बारम्बार उसका स्वाद चखता है, उपयोगको अन्तरमें जोड़कर शान्तरसमें बारम्बार स्थिर होता है, परन्तु वहाँ विशेष उपयोग नहीं ठहरता इसलिये अशुभ प्रसंगोंको छोड़कर शुभ प्रसंगमें वह वर्तता है, उसका यह वर्णन है। ऐसी भूमिकावाला आयु पूर्ण होने पर स्वर्गमें ही जावे-ऐसा नियम है, क्योंकि श्रावकको सीधी मोक्षप्राप्ति नहीं होती; सर्वसंगत्यागी मुनिपनेके बिना सीधी मोक्ष प्राप्ति किसीको नहीं होती। साथ ही पंचमगुणस्थानी श्रावक स्वर्ग सिवाय अन्य कोई गतिमें भी नहीं जाता। अतः श्रावक शुभभावके फलमें स्वर्गमें ही जाता है, और पीछे क्या होता है वह बात आगेकी गाथामें कहेंगे।



# [ २४ ]

# श्रावकको पुण्यफलप्राप्ति और मोक्षकी साधना

卐

श्रावकको सिद्ध भगवान जैसे आत्मिकआनन्दका अंश होता है। वह उत्तम स्वर्गमें जाता है परन्तु उसके वैभवमें मूर्छित नहीं होता, वहाँ भी आराधकभाव बनाये रखता है, और बादमें मनुष्य होकर वैराग्य प्राप्त कर मुनि होकर आत्मसाधना पूर्ण करके केवलज्ञान प्रगट करके सिद्धालयमें जाता है।—ऐसा श्रावकधर्मका फल है।

卐

धर्मी श्रावक सर्वज्ञदेवको पहिचानकर देवपूजा आदि षट्कार्य प्रतिदिन करता है, जिन-मन्दिरमें अनेक उत्सव करता है, और उससे पुण्य बाँधकर स्वर्गमें जाता है; वहाँ आराधना चालू रखकर बादमें उत्तम मनुष्य होकर मुनिपना लेकर केवलज्ञान और मोक्ष पाता है; ऐसी बात अब कहते हैं—

ते चाणुव्रतधारिणोऽपि नियतं यान्त्येव देवालयं
तिष्ठंत्येव महर्द्धिकामरपदं तत्रैव लब्ध्वा चिरम् ।
अत्रागत्य पुनः कुलेऽतिमहति प्राप्य प्रकृष्टं शुभात्
मानुष्यं च विरागतां च सकलत्यागं च मुक्तास्ततः । २४ ॥

वह श्रावक चाहे मुनिव्रत न ले सके और अणुव्रतधारी ही होवे तो भी, आयु पूर्ण होने पर नियमसे स्वर्गमें जाता है, वहाँ अणिमा आदि महान ऋद्धिसहित बहुत काल पर्यन्त अमरपदमें (देवपदमें) रहता है, उसके बाद प्रकृष्ट शुभ द्वारा महान उत्तम कुलमें मनुष्यपना प्राप्त कर, वैरागी होकर, सकल परिग्रहका त्याग कर, मुनि होकर शुद्धोपयोग-रूपी साधन द्वारा मोक्ष पहुँचता है।—इस प्रकार श्रावक परम्परासे मोक्षको साधता है—ऐसा जानना।

मुनि तो मोक्षके साक्षात् साधक हैं; और श्रावक परम्परासे मोक्षका साधक है।

श्रावकको केवल व्यवहारसाधन है ऐसा नहीं, किन्तु उसे भी अंशरूप निश्चयसाधन होता है; और वह निश्चयके बलसे ही ( अर्थात् शुद्धिके बलसे ही ) आगे बढ़कर राग तोड़कर केवलज्ञान और मोक्ष पाता है। श्रावकको अभी शुद्धता कम है और राग शेष है—इसलिये वह स्वर्गमें महान ऋद्धि सहित देव होता है। श्रावक मरकर कभी भी विदेहक्षेत्रमें जन्म नहीं लेता। मनुष्यगतिसे मरकर विदेहक्षेत्रमें उत्पन्न होने वाला तो मिथ्यादृष्टि ही होता है। पहले बँधी हुए आयुके कारण जो समकिती मनुष्य पुनः सीधा मनुष्य ही बने वह तो असंख्य वर्षकी आयु वाली भोगभूमिमें ही जन्म लेवे, विदेह आदिमें जन्म नहीं लेता, और पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक तो कभी मनुष्यपर्यायमेंसे मनुष्य होता ही नहीं, देवगतिमें ही जाता है, ऐसा नियम है। सम्यक्‌दृष्टि मनुष्य कभी मनुष्य, तिर्यंच अथवा नरककी आयु नहीं बाँधता; मनुष्यगतिमें ये तीनों आयु मिथ्यादृष्टिकी भूमिकामें ही बँधती हैं;—आयु बँधने पर चाहे सम्यक्‌दर्शन प्राप्त हो जाय—यह बात अलग है, परन्तु इन तीनमेंसे कोई आयु बाँधते समय तो वह मनुष्य मिथ्यादृष्टि ही होता है। सम्यक्‌दृष्टि देव होवे या नारकी हो वह मनुष्यकी आयु बाँध सके, परन्तु सम्यक्‌दृष्टि मनुष्य यदि उसे भव होवे और आयु बाँधे तो देवगतिकी आयु बाँधे, अन्य न बाँधे—ऐसा नियम है।

गृहस्थपनेमें अधिकसे अधिक पाँचवें गुणस्थान तककी भूमिका होती है, इससे ऊँची भूमिका नहीं होती, वह अधिकसे अधिक एकभवावतारी हो सके परन्तु गृहस्थावस्थामें मोक्ष नहीं पा सकता। बाह्य-अभ्यन्तर दिगम्बर मुनिदशा हुए बिना कोई जीव मोक्ष नहीं पा सकता। श्रावक-धर्मात्मा आराधकभावके साथ उत्तम पुण्यके कारण यहाँसे वैमानिक देवलोकमें जाता है, वहाँ अनेक प्रकार महानऋद्धि और वैभव होते हैं, परन्तु धर्मी उसमें मूर्छित ( मोहित ) नहीं होता, वह वहाँ भी आराधना चालू रखता है। उसने आत्माका सुख चखा है इसलिये बाह्य वैभवमें मूर्छित नहीं होता। स्वर्गमें जन्म होने पर वहाँ सबसे पहले इसे ऐसा भाव होता है कि—अहो! यह तो मैंने पूर्वभवमें धर्मका सेवन किया उसका प्रताप है, मेरी आराधना अधूरी रह गई, और राग शेष रहा इस कारण यहाँ अवतार हुआ; पहले जिनेन्द्रभगवानकी पूजन-भक्ति की थी उसका यह फल है; इसलिये चलो, सबसे पहले जिनेन्द्र भगवानका पूजन करना चाहिये। ऐसा कहकर स्वर्गमें जो शाश्वत जिनप्रतिमा हैं उनकी पूजा करता है। इस प्रकार वह स्वर्गमें भी आराधकभाव चालू रखकर वहाँ असंख्य वर्षकी आयु पूर्ण होने पर उत्तम मनुष्यकुलमें जन्म लेता है, और योग्य कालमें वैराग्य पाकर मुनि होकर आत्मसाधना पूर्ण करके केवलज्ञान प्रगट करके सिद्धालयमें जाता है।

देखो, इस श्रावकदशाका फल! श्रावकको सिद्ध भगवान जैसा आत्मिकआनंदका अंश होता है, और वह एकभवावतारी भी होता है। यह उत्कृष्ट बात कही। कोई जीवको दो-तीन अथवा अधिकसे अधिक आठ भव भी ( आराधकभाव सहितके, मनुष्यके ) होते हैं। परन्तु वह तो मोक्षपुरीमें जाते-जाते बीचमें विश्राम लेने जितने हैं।

देखो, यह श्रावकधर्मके फलमें मोक्षप्राप्ति कहा, अर्थात् यहाँ श्रावकधर्ममें एकमात्र पुण्यकी बात नहीं, परन्तु सम्यक्त्वसहितकी शुद्धतापूर्वककी यह बात है। आत्माके ज्ञान बिना सच्चा श्रावकपना नहीं होता, श्रावकपना क्या है इसका भी बहुतोंको ज्ञान नहीं। जैनकुलमें जन्म लेनेसे ही श्रावकपना मान ले, परन्तु ऐसा श्रावकपना नहीं। श्रावकपना तो आत्माकी दशामें है। अपन तो गृहस्थ हैं इसलिये स्त्री-कुटुम्बको संभाल करना अपना कर्तव्य है—ऐसा अज्ञानी मानता है।—परन्तु भाई! तेरा सच्चा कर्तव्य तो अपनी आत्माको सुधारनेका है, जीवनमें यही सच्चा कर्तव्य है, अन्यका कर्तव्य तेरे पर नहीं। अरे, पहले ऐसी श्रद्धा तो कर! श्रद्धाके पश्चात् अल्प रागादि होंगे परन्तु धर्मी उसे कर्तव्य नहीं स्वीकारता इसलिये वे लँगड़े हो जावेंगे, अत्यन्त मन्द हो जावेंगे। जैसे रंग-बिरंगे कपड़ेसे लिपटी सोनेकी लकड़ी वह कोई वस्त्ररूप नहीं होती, उसी प्रकार चित्र-विचित्र परमाणुओंके समूहसे लिपटी यह चैतन्य-लकड़ी कोई शरीररूप हुई नहीं, भिन्न ही है। आत्माको जहाँ शरीर ही नहीं वहाँ पुत्र, मकान आदि कैसे?—यह तो स्पष्टरूपसे बाहर-दूर पड़े हैं। ऐसा भेदज्ञान करना सच्चा विवेक और चतुराई है। बाहरकी चतुराईमें तो कोई हित नहीं। चतुर उसे कहते हैं जो चैतन्यको चेते, जाने; विवेकी उसे कहते हैं कि जो स्व परका विवेक करे अर्थात् भिन्नता जाने; जीव उसे कहते हैं जो ज्ञान-आनन्दमय जीवन जीवे; चतुर उसे कहते हैं जो आत्माके जाननेमें अपनी चतुराई खर्च करे? आत्माके जाननेमें जो मूढ़ रहे उसे चतुर कौन कहे?—उसे विवेकी कौन कहे! और आत्मज्ञान बिना जीनेको जीवन कौन कहे? भाई, मूलभूत वस्तु तो आत्माकी पहचान है। तीर्थयात्रामें भी मुख्य हेतु यह है कि तीर्थमें आराधक जीवोंका विशेष स्मरण होता है तथा कोई सन्त-धर्मात्माका सत्संग मिले। अहिंसा आदि अणुव्रतका पालन, जिनेन्द्रदेवका दर्शन-पूजन, तीर्थयात्रा आदिसे श्रावकको उत्तम पुण्य बँधता है और वह स्वर्गमें जाता है। श्रावकको ऐसी भावना नहीं है कि मैं पुण्य करूँ और स्वर्गमें जाऊँ; परन्तु जैसे किसीको चौवीस गाँव जाना हो और सोलह गाँव चलकर बीचमें थोड़े समय विश्रामके लिये रुक जावे, वह कोई वहाँ रुकनेके लिये नहीं, उसका ध्येय तो चौवीस गाँव जानेका है; उसी प्रकार धर्मीको सिद्धपदमें जाते-जाते, राग छूटते-छूटते कुछ राग शेष

रह गया है, इसलिये बीचमें स्वर्गका भव होता है, परन्तु इसका ध्येय कोई वहाँ रुकनेका नहीं, इसका ध्येय तो परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति करना ही है। मनुष्यभवमें हो अथवा स्वर्गमें हो, परन्तु वह परमात्मपदकी प्राप्तिकी भावनासे ही जीवन बिताता है। देखो तो, श्रीमद् राजचन्द्रजी भी गृहस्थपनामें रहकर मुनिदशाकी कैसी भावना भाते थे? ( 'अपूर्व-अवसर' काव्यमें मुनिपदसे लेकर सिद्धदशा तकके परमपदकी भावना भायी है।) आंशिक शुद्ध-परिणति सहित धर्मात्माका जीवन भी अलौकिक होता है।

पुण्य और पाप, अथवा शुभ या अशुभ राग विकृति है; उसके अभावसे आनंद-दशा प्रगट होती है वह स्वाभाविक मुक्तदशा है। श्रावक साधकको भी ऐसी आनन्द-दशाका नमूना प्रगट हो गया है।—ऐसी दशाको पहचानकर उसकी भावना भाकर, जिस प्रकार बने उस प्रकार स्वरूपमें रमणता बढ़ाने और रागको घटानेका प्रयत्न करना, जिससे अल्पकालमें पूर्ण परमात्मदशा प्रगट होनेका प्रसंग आवे।

भाई, सम्पूर्ण राग न छूटे और तू गृहस्थदशामें हो तब तेरी लक्ष्मीको धर्म-प्रसंगमें खर्च करके सफल कर। जैसे चन्द्रकान्त-मणिकी सफलता कब कि चन्द्रकिरणके स्पर्शसे उसमेंसे अमृत झरे तब; उसी प्रकार लक्ष्मीकी शोभा कब? कि सत्पात्रके योगसे वह दानमें खर्च होवे तब। श्रावक-धर्मी जीव निश्चयसे तो अन्तरमें स्वयं अपनेको वीतरागभावका दान करता है, और शुभराग द्वारा मुनियोंके प्रति, साधर्मियोंके प्रति भक्तिसे दानादि देता है जिनेन्द्रदेवकी पूजनादि करता है;—ऐसा उसका व्यवहार है। इस प्रकार चौथी-पाँचवीं भूमिकामें धर्मीको ऐसा निश्चय-व्यवहार होता है। कोई कहे कि चौथी भूमिकामें जरा भी निश्चयधर्म नहीं होता—तो वह बात असत्य है; निश्चय बिना मोक्षमार्ग कैसा? और, वहाँ निश्चयधर्मके साथ पूजा-दान-अणुव्रत आदि जो व्यवहार है उसे भी जो न स्वीकारे तो वह भी भूल है। जिस भूमिकामें जिस-प्रकारका निश्चय-व्यवहार होता है उसे बराबर स्वीकार करना चाहिये। व्यवहारके आश्रयसे मोक्षमार्ग माने तो ही व्यवहारको स्वीकार किया कहा जाय—ऐसा श्रद्धान ठीक नहीं है। बहुतसे ऐसा कहते हैं कि तुम व्यवहारके अवलम्बनसे मोक्ष होना नहीं मानते, इसलिये तुम व्यवहारको ही नहीं मानते,—परन्तु यह बात बराबर नहीं है। जगतमें तो स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, जीव-अजीव सब तत्त्व हैं, उनके आश्रयसे लाभ माने तो ही उन्हें स्वीकार किया कहा जावे ऐसा कोई सिद्धांत नहीं है; इसी प्रकार व्यवहारको भी समझना।

मुनिधर्म और श्रावकधर्म ऐसे दोनों प्रकारके धर्मोंका भगवानने उपदेश दिया है। इन दोनों धर्मोंका मूल सम्यग्दर्शन है। वहाँ स्वोन्मुखताके बल द्वारा जितना राग दूर

होकर शुद्धता प्रगट हुई उतना ही निश्चयधर्म है, और महाव्रत अणुव्रत अथवा दान-पूजा आदि संबंधी जितना शुभराग रहा उतना उस भूमिकाका असद्भूतव्यवहारनयसे जानने योग्य व्यवहारधर्म है। धर्मी जीव स्वर्गमें जाता है वहाँ भी जिनेन्द्र-पूजन करता है, भगवानके समवसरणमें जाता है, नन्दीश्वर द्वीप जाता है, भगवानके कल्याणक प्रसंगोंको मनाने आता है,—ऐसे अनेक प्रकारके शुभकार्य करता है। देवलोकमें धर्मीकी आयु इतनी होती है कि देवके एक भवमें तो असंख्य तीर्थंकरोंके कल्याणक मनाये जाते हैं। इसलिये देवोंको 'अमर' कहा जाता है।

देखो तो, जीवके परिणामकी शक्ति कितनी है। शुद्ध परिणाम करे तो दो घड़ीमें केवलज्ञान प्राप्त करे; दो घड़ीके शुभपरिणाम द्वारा असंख्य वर्षका पुण्य बँधे; और अज्ञान द्वारा तीव्र पाप करे तो दो घड़ीमें असंख्य वर्ष तक नरकके दुःखको प्राप्त करे!—उदाहरण-स्वरूप ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीकी आयु कितनी? कि सात सौ (७००) वर्ष; इन सात सौ वर्षोंकी संख्यात सेकंड होती हैं। इतने कालमें इसने नरककी तैंतीस सागरोंकी अर्थात् असंख्यात अरब वर्षकी आयुष बाँधी अर्थात् एक एक सेकंडके पापके फलमें असंख्य अरब वर्षके नरकका दुःख प्राप्त किया। पाप करते समय जीवको विचार नहीं रहता परन्तु इस नरकके दुःखकी बात सुने तो घबराहट हो जाय। ये दुःख जो भोगता है—उसकी पीड़ा की तो क्या बात,—परन्तु इसका वर्णन सुनते ही अज्ञानीको भय पैदा हो जाय ऐसा है। इसलिये ऐसा अवसर प्राप्त करके जीवको चेतना चाहिये। जो चेतकर आत्माकी आराधना करे तो उसका फल महान है, जिस प्रकार पापके एक सेकंडके फलमें असंख्य वर्षका नरक दुःख कहा, उसी प्रकार साधकदशाके एक एक समयकी आराधनाके फलमें अनन्त कालका अनन्तगुना मोक्षसुख है। किसी जीवको साधकदशाका कुल काल असंख्य समयका ही होता है, संख्यात समयका नहीं होता, अथवा अनन्त समयका नहीं होता; और मोक्षका काल तो सादि-अनन्त है; अर्थात् एक-एक समयके साधकभावके फलमें अनन्त-कालका मोक्षसुख आया।—वाह, कैसा लाभका व्यापार! भाई, तेरे आत्माके शुद्धपरिणामकी शक्ति कितनी है—वह तो देख! ऐसे शुद्धपरिणामसे आतमा जागृत हो तो क्षणमात्रमें कर्मोंको तोड़फोड़ कर मोक्षको प्राप्त कर ले। कोई जीव अन्तर्मुहूर्त ही मुनिपना पाले, और उस अन्तर्मुहूर्तमें शुभपरिणामसे ऐसा पुण्य बाँधे कि नववें ग्रैवेयकमें इकतीस सागरोपमकी स्थिति वाला देव होता है। देखो, इस जीवके शुभ-अशुभ अथवा शुद्ध-परिणामकी शक्ति और उसका फल! उसमें शुभ-अशुभसे स्वर्ग-नरकके भव तो अनन्तबार जीवने किये, परन्तु शुद्धता प्रगट करके मोक्षको साधे उसकी बलिहारी है।

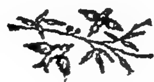
कोई जीव देवमेंसे सीधा देव नहीं होता।
कोई जीव देवमेंसे सीधा नारकी नहीं होता।
कोई जीव नारकीमेंसे सीधा नारकी नहीं होता।
कोई जीव नारकीमेंसे सीधा देव नहीं होता।
देव मरकर मनुष्य अथवा तिर्यंचमें उपजे।
नारकी मरकर मनुष्य अथवा तिर्यंचमें उपजे।
मनुष्य मरकर चारोंमेंसे कोई भी गतिमें उपजे।
तिर्यंच मरकर चारोंमेंसे कोई भी गतिमें उपजे।

यह सामान्य बात की; अब सम्यग्दृष्टिकी बातः—

देवमेंसे सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्यमें ही अवतरे।
नरकमेंसे सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्यमें ही आवे।
मनुष्य सम्यग्दृष्टि जीव देवगतिमें जावे, परन्तु जो मिथ्यात्वदशामें आयु बंध गई हो तो नरक अथवा तिर्यंच अथवा मनुष्यमें भी जावे।
तिर्यंच सम्यग्दृष्टि जीव देवगतिमें ही जावे,
और पंचमगुण स्थानवर्ती श्रावक (तिर्यंच हो या मनुष्य) वह तो नियमसे स्वर्गमें ही जावे, अन्य किसी गतिका आयुष्य उसे नहीं होता।

इस प्रकार धर्मी श्रावक स्वर्गमें जाता है, और वहाँसे मनुष्य होकर, चौदह प्रकारका अन्तरंग और दस प्रकारका बाह्य—सर्व परिग्रह छोड़कर, मुनि होकर, शुद्धताकी श्रेणी मांड़कर, सर्वज्ञ होकर सिद्धलोकको जाता है, वहाँ सदाकाल अनन्त आत्मिक-आनन्दका भोग करता है। अहा, सिद्धोंके आनन्दका क्या कहना।

इस प्रकार सम्यक्त्वसहित अणुव्रतरूप श्रावकधर्म वह श्रावकको परम्परासे मोक्षका कारण है, इसलिये श्रावक उस धर्मको अंगीकार करके उसका पालन करे—ऐसा उपदेश है।



# [ २५ ]

## मोक्षमार्गमें निश्चयसहित व्यवहारधर्म मान्य है

卐

भाई, उत्तम सुखका भण्डार तो मोक्षमें है, इसलिये मोक्षपुरुषार्थ ही सब पुरुषार्थोंमें श्रेष्ठ है। साधकको मोक्षपुरुषार्थके साथ अणुव्रतादि शुभरागरूप जो धर्म पुरुषार्थ है वह व्यवहारसे मोक्षका साधन है, इसलिये श्रावककी भूमिकामें वह भी ग्रहण करने योग्य है। परन्तु मोक्षके पुरुषार्थ बिना मात्र पुण्य (मात्र व्यवहार)की शोभा नहीं, इसका तो फल संसार है।

卐

श्रावक पुण्यफलको प्राप्त करके मोक्ष पाता है ऐसा बतलाया। अब कहते हैं कि शुभराग होते हुए भी धर्मीको मोक्षपुरुषार्थ ही मुख्य है और वह उपादेय है; और उसके साथका अणुव्रतादिरूप जो व्यवहारधर्म है वह भी मान्य है—

पुंसोऽर्थेषु चतुर्षु निश्चलतरो मोक्षः परं सत्सुखः
शेषास्तद्विपरीतधर्मकलिता हेया मुमुक्षोरतः ।
तस्मात्तत्पदसाधनत्वधरणो धर्मोऽपि नो संमतः
यो भोगादिनिमित्तमेव स पुनः पापं बुधैर्मन्यते ॥ २५ ॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें मात्र मोक्ष ही निश्चल-अविनाशी और सत्य सुखरूप है, शेष तीन तो इससे विपरीत स्वभाव वाले हैं अर्थात् अस्थिर और दुःखरूप हैं; अतः मुमुक्षुके लिये वे हेय हैं और केवल मोक्ष ही उपादेय है। तथा उस मोक्षके साधनरूप वर्तता होवे वह धर्म भी हमें मान्य है—संमत है, अर्थात् मोक्षमार्गको साधते-साधते उसके साथ महाव्रत अथवा अणुव्रतके जो शुभभाव होते हैं वे तो संमत हैं, क्योंकि वे भी व्यवहारसे मोक्षके साधन हैं, परन्तु जो मात्र भोगादिके निमित्त हैं उन्हें तो पंडितजन पाप कहते हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो, सच्चा सुख तो एक मोक्षपदमें ही है, अतः मुमुक्षुओंको उसका ही पुरुषार्थ करना चाहिये। इसके सिवाय अन्य भाव तो विपरीत होनेसे हेय हैं। देखिये, इसे विपरीत और हेय कहा उसमें शुभराग भी आ गया। इस प्रकार उसे विपरीत और हेयरूपमें स्वीकार करके, पश्चात् यदि वह मोक्षमार्ग सहित होवे तो उसे मान्य किया है, अर्थात् व्यवहारसे उसे मोक्षमार्गमें स्वीकार किया है। परन्तु जो साथमें निश्चय मोक्षसाधन ( सम्यग्दर्शनादि ) न होवे तो मोक्षमार्ग बिना ऐसे अकेले शुभरागको मान्य नहीं करते अर्थात् उसे व्यवहार मोक्षसाधन भी नहीं कह सकते। इसके सिवाय जो काम और अर्थ सम्बन्धी पुरुषार्थ है वह तो पाप ही है, अतः सर्वथा हेय है।

भाई, उत्तम सुखका भंडार तो मोक्ष है; अतः मोक्षपुरुषार्थ ही सर्व पुरुषार्थमें श्रेष्ठ है। पुण्यका पुरुषार्थ भी इसकी अपेक्षा अल्प है; और संसारके विषयोंकी प्राप्ति हेतु जितने प्रयत्न हैं वे तो एकदम पाप हैं अतः वे सर्वथा त्याज्य हैं। अब साधकको पुरुषार्थके साथ अणुव्रतादि शुभरागरूप जो धर्मपुरुषार्थ है वह असद्भूत व्यवहारसे मोक्षका साधन है अतः श्रावककी भूमिकामें वह भी व्यवहारनयके विषयमें ग्रहण करने योग्य है। मोक्षका पुरुषार्थ तो सर्व श्रेष्ठ है, परन्तु उसके अभावमें ( अर्थात् निचली साधक दशामें ) व्रत-महाव्रतादिरूप धर्मपुरुषार्थ जरूर ग्रहण करना चाहिये। अज्ञानी भी पाप छोड़कर पुण्य करता है तो इसे कोई अस्वीकार नहीं करते; पापकी अपेक्षा तो पुण्य भला ही है। परन्तु कहते हैं कि भाई, मोक्षमार्ग बिना तेरा अकेला पुण्य शोभा नहीं पाता है; क्योंकि जिसे मोक्षमार्गका लक्ष्य नहीं, वह तो पुण्यके फलमें मिले हुये भोगोंमें आसक्त होकर पुनः पापमें चला जावेगा। अतः बुधजन-ज्ञानी-विद्वान ऐसे पुण्यको परमार्थसे तो पाप कहते हैं। ( देखो, योगीन्द्रदेव आचार्यकृत योगसार दोहा ७१-७२, समयसार गाथा १९३, पश्चात् श्री जयसेनाचार्यकी सं. टीकामें परिशिष्ट पुण्य-पाप अधिकार। )

मोक्षमें ही सच्चा सुख है ऐसा जो समझे वह रागमें या पुण्यफलमें सुख कैसे माने ?— नहीं ही माने। जिसकी दृष्टि अकेले रागमें है और उसके फलमें जिसे सुख लगता है उसे तो शुभभावके साथ भोगकी अभिलाषा पड़ी है, अतः इस शुभको मोक्ष-मार्गमें मान्य नहीं करते, मोक्षके साधनका व्यवहार उसे लागू नहीं पड़ता। धर्मीको मोक्षमार्ग साधते-साधते बीचमें अभिलाषा रहित और श्रद्धामें हेयबुद्धि सहित शुभराग रहता है, उसमें मोक्षके साधनका व्यवहार लागू पड़ता है। परन्तु शुरूसे ही जो रागको श्रद्धामें इष्ट मानकर अपनाता है वह रागसे दूर कैसे होवेगा ? और रागरहित मोक्षमार्गमें कहाँसे आवेगा ? ऐसे जीवके शुभको तो 'भोग हेतु धर्म' समयसारमें कहा है, उसे

'मोक्ष हेतु धर्म' नहीं कहते। मोक्षके हेतुभूत सच्चे धर्म की अज्ञानीको पहचान भी नहीं, रागरहित ज्ञान क्या है उसे वह नहीं जानता, शुद्धज्ञानके अनुभवका उसे अभाव है इसलिये मोक्षमार्गका उसे अभाव है। धर्मीको शुद्धज्ञानके अनुभव सहित जो शुभराग शेष रहा उसे व्यवहारसे धर्म अथवा मोक्षका साधन कहनेमें आता है।

नीचेकी साधक भूमिकामें ऐसा व्यवहार है जरूर, उसे जैसा है वैसा मानना चाहिये।—इसका अर्थ यह नहीं कि इसे ही उपादेय मानकर संतुष्ट हो जाना। वास्तवमें उपादेय तो मोक्षार्थीको निश्चयरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग ही है, उसके साथ उस-उस भूमिकामें जो व्यवहार होता है उसे व्यवहारमें आदरणीय कहा जाता है। तीर्थंकरदेवका आदर करना, दर्शन-पूजन करना, मुनिवरोंकी भक्ति, आहारदान, स्वाध्याय, अहिंसादि व्रतोंका पालन—यह सब व्यवहार है वह सत्य है, मान्य है, आदरणीय है, परन्तु निश्चयदृष्टिमें शुद्धात्मा ही उपादेय है और उसके आश्रयसे ही मोक्षमार्ग है। ऐसी श्रद्धा प्रारम्भसे ही होनी चाहिये।

व्यवहारको एकान्त हेय कहकर कोई जीव देवदर्शन-पूजन-भक्ति, मुनि आदि धर्मात्माका बहुमान, स्वाध्याय व्रतादिको छोड़ दे और अशुभको सेवे वह तो स्वच्छन्दी और पापी है; शुद्धात्माके अनुभवमें लीनता होते ही ये सब व्यवहार छूट जाते हैं, परन्तु उसके पूर्व तो भूमिकाके अनुसार व्यवहारके परिणाम होते हैं। शुद्धस्वरूपकी दृष्टि और साथमें भूमिका अनुसार व्यवहार—यह दोनों साधकको साथमें होते हैं। मोक्षमार्गमें ऐसा निश्चय-व्यवहार होता है। कोई एकान्त ग्रहण करे अर्थात् नीचे की भूमिकामें भी व्यवहारको स्वीकार न करे अथवा निश्चय बिना उसे ही सर्वस्व मान ले तो वे दोनों मिथ्यादृष्टि हैं, एकान्तवादी हैं, और उन्हें निश्चयकी अथवा व्यवहारकी खबर नहीं।

नय और निक्षेप सम्यक्‌ज्ञानमें होते हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टिके ही वे सच्चे होते हैं। स्वभावदृष्टि हुई उस समय सम्यक् भावश्रुत हुआ, और उस समय प्रमाण और नय सच्चे हुए; बादमें निश्चय क्या और व्यवहार क्या—ऐसी उसको खबर पड़ती है। निश्चयसापेक्ष व्यवहार धर्मीको ही होता है; अज्ञानीको जो एकान्त व्यवहार है वह सच्चा मार्ग नहीं अथवा वह सच्चा व्यवहार नहीं। धर्मी जीव शुद्धताको साधते हुए और बीचमें भूमिकानुसार व्रतादि व्यवहारका पालन करते हुए अंतमें अनन्तसुखके भंडाररूप मोक्षको साधते हैं। ऐसा मोक्षमार्ग ही मुमुक्षुका परम कर्तव्य है, अर्थात् वीतरागता कर्तव्य है; राग कर्तव्य नहीं। वीतरागता न हो वहाँ तक क्रमशः जितना राग घटे उतना घटाना प्रयोजनवान है। पहले ऐसा वीतरागी सम्यक्‌दृष्टि करे पीछे ही

धर्ममें चरण पड़ते हैं, इसके बिना तो कलश-टीकामें पण्डित श्री राजमलजी कहते हैं—'मरके चूरा होते हुए बहुत कष्ट करते हैं तो करो, तथापि ऐसा करते हुए कर्मक्षय तो नहीं होता'। देखो, ३०० वर्ष पहले पंडित बनारसीदासजीने श्री राजमलजीको 'समयसार नाटकके मरमी' कहा है।

श्रावकधर्मके मूलमें भी सम्यग्दर्शन तो होता ही है। ऐसे सम्यक्त्व सहित राग घटानेका जो उपदेश है वह हितकारी उपदेश है। भाई, किसी भी प्रकार जिनमार्गको पाकर तू स्वद्रव्यके आश्रयके बल द्वारा राग घटा उसमें तेरा हित है; दान आदिका उपदेश भी उसी हेतु दिया गया है। कोई कहे कि खूब पैसा मिले तो उसमेंसे थोड़ा दानमें लगाऊँ (दस लाख मिले तो एक लाख लगाऊँ)—इसमें तो उलटी भावना हुई, लोभका पोषण हुआ; पहले घरको आग लगा और पीछे कुआँ खोदकर उसके पानीसे आग बुझाना—इस प्रकारकी यह मूर्खता है। वर्तमानमें पाप बाँधकर पीछे दानादि करनेको कहता है, इसकी अपेक्षा वर्तमानमें ही तू तृष्णा घटा ले ना भाई। एक बार आत्माको जोर देकर तेरी रुचि की दिशा ही बदल डाल कि मुझे राग अथवा रागके फल कुछ नहीं चाहिये, आत्माकी शुद्धताके अतिरिक्त अन्य कुछ भी मुझे नहीं चाहिये। —ऐसी रुचिकी दिशा पलटनेसे तेरी दशा पलट जावेगी, अपूर्व दशा प्रगट हो जावेगी।

धर्मीको जहाँ आत्माकी अपूर्व दशा प्रगट हुई वहाँ उसे देहमें भी एक प्रकारकी अपूर्वता आ गई, क्योंकि सम्यक्त्व आदिमें निमित्तभूत होवे ऐसी देह पूर्वमें कभी नहीं मिली थी; अथवा सम्यक्त्व सहितका पुण्य जिसमें निमित्त हो ऐसी देह पूर्वमें मिथ्यात्व-दशामें कभी नहीं मिली थी। बाद, धर्मीका आत्मा अपूर्व, धर्मीका पुण्य भी अपूर्व और धर्मीका देह भी अपूर्व। धर्मी कहता है कि यह देह अन्तिम है अर्थात् फिरसे ऐसा (विराधकपनाका) देह मिलनेका नहीं; कदाचित् कुछ भव होंगे और देह मिलेंगे तो वे आराधकभाव सहित ही होंगे, अतः उसके रजकण भी पूर्वमें न आये हों ऐसे अपूर्व होंगे, क्योंकि यहाँ जीवके भावमें (शुभमें भी) अपूर्वता आ गई है; धर्मी जीवकी सभी बातें अलौकिक हैं। भक्तामर-स्तोत्रमें मानतुंगस्वामी भगवानकी भक्ति करते हुए कहते हैं कि हे प्रभो! जगतमें उत्कृष्ट शान्तरसरूप परिणमित जितने रजकण थे वे सब आपकी देहरूप परिणमित हो गये हैं।—इस कथनमें गहन भाव भरे हैं। प्रभो, आपके केवलज्ञानकी और चैतन्यके उपशमरसकी तो अपूर्वता, और उसके साथकी परम औदारिक देहमें भी अपूर्वता,—ऐसी देह अन्यको नहीं होती। आराधककी सभी बातें जगतसे अनोखी हैं, उसके आत्माकी शुद्धता भी जगतसे अनोखी है और इसका पुण्य भी अनोखा है।

इस प्रकार मोक्ष और पुण्यफल दोनोंकी बात की; फिर भी कहते हैं कि हे मुमुक्षु! तुझे आदरणीय तो मोक्षका ही पुरुषार्थ है; पुण्य तो इसका आनुषंगिक फल है अर्थात् अनाजके साथके घासकी तरह यह तो बीचमें सहज ही आ जाता है। इसमें भी जहाँ हेयबुद्धि है वहाँ श्रावकके लिये पापकी तो बात ही कैसी? इस प्रकार धर्मी श्रावकको मोक्षपुरुषार्थकी मुख्यताका उपदेश किया और उसके साथ पुण्यके शुभ परिणाम होते हैं यह भी बतलाया।

*       *       *

अरे जीव! तू सर्वज्ञकी और ज्ञानकी प्रतीति बिना धर्म क्या करेगा? रागमें स्थित रहकर सर्वज्ञकी प्रतीति नहीं होती; रागसे जुदा पड़कर, ज्ञानरूप होकर, सर्वज्ञकी प्रतीति होती है। इस प्रकार ज्ञानस्वभावके लक्ष पूर्वक सर्वज्ञकी पहिचान करके उसके वचनानुसार धर्मकी प्रवृत्ति होती है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानीके जो वचन हैं वे हृदयमें सर्वज्ञ अनुसार हैं, क्योंकि उसके हृदयमें सर्वज्ञदेव विराज रहे हैं। जिसके हृदयमें सर्वज्ञ न हो अर्थात् सर्वज्ञको जो न मानता हो उसके धर्मवचन सच्चे नहीं होते। इस प्रकार सर्वज्ञकी पहिचान धर्मका मूल है।



[ २६ ]

## मोक्षकी साधनासहित ही अणुव्रतादिकी सफलता

हे भव्य! तेरा साध्य मोक्ष है; अर्थात् व्रत अथवा महाव्रतके पालनमें उस-उस प्रकारकी अंतरंग शुद्धि बढ़ती जाय और मोक्षमार्ग सधता जाय-उसे तू लक्ष्यमें रखना। मोक्षके ध्येयको चूककर जो कुछ करनेमें आवे वह तो दुःख और संसारका ही कारण है।

धर्मी जीवको मोक्ष ही साध्यरूप है, मोक्षरूप साध्यको भूलकर जो अन्यका आदर करता है उसके व्रतादि भी संसारके ही कारण होते हैं—ऐसा अब कहते हैं—

भव्यानामणुभिर्व्रतैरनणुभिः साध्योत्र मोक्षः परं
नान्यत्किंचिदिहैव निश्चयनयात् जीवः सुखी जायते।
सर्वं तु व्रतजातमिदृशधिया साफल्यमेत्यन्यथा
संसाराश्रयकारणं भवति यत् तद्दुःखमेव स्फुटम् ॥ २६ ॥

यहाँ भव्य जीवको अणुव्रत अथवा महाव्रत द्वारा मात्र मोक्ष ही साध्य है, संसार सम्बन्धी अन्य कोई भी साध्य नहीं, क्योंकि निश्चयनयसे मोक्षमें ही जीव सुखी होता है। ऐसी बुद्धि अर्थात् मोक्षकी बुद्धिसे जो व्रतादि करनेमें आते हैं वे सर्व सफल हैं; परन्तु इस मोक्षरूपी ध्येयको भूलकर जो व्रतादि करनेमें आते हैं वे तो संसारके कारण हैं और दुःख ही है।

देखो, अधिकार पूरा करते हुए अन्तमें स्पष्ट करते हैं कि भाई, हमने श्रावकके धर्मरूपमें पूजा-दान आदि अनेक शुभभावोंका वर्णन किया तथा अणुव्रत आदिका वर्णन किया,—परन्तु उसमें जो शुभराग है उसे साध्य न मानना, उसको ध्येय न मानना, ध्येय और साध्य तो 'सम्पूर्ण वीतरागभावरूप' मोक्ष ही है, और वही परम सुख है। धर्मीकी दृष्टि-रुचि रागमें नहीं, उसे तो मोक्षको साधनेकी ही भावना है; सच्चा सुख मोक्षमें ही

है। रागमें अथवा पुण्यके फलमें कोई सुख नहीं। इसलिये हे भव्य! व्रत अथवा महाव्रतके पालनेमें उस-उस प्रकारकी अन्तरंगशुद्धि बढ़ती जाय और मोक्षमार्ग सधता जाय—उसे तू लक्ष्यमें रखना। शुद्धताके साथ-साथ जो व्रत-महाव्रतके परिणाम होते हैं वे मोक्षमार्गके साथ निमित्त हैं, परन्तु जरा भी शुद्धता जिसे प्रगट नहीं और मात्र रागकी भावनामें ही रुक गया है उसका तो व्रतादि पालन करना भी संसारका कारण होता है और वह दुःख ही प्राप्त करता है। इस प्रकार मोक्षमार्गके यथार्थ व्रत-महाव्रत सम्यग्दृष्टिको ही होते हैं—यह बात इसमें आ गई। बीचमें व्रतके परिणाम आवेंगे इससे पुण्य उच्च कोटिका बँधेगा और देवलोकका अचिन्त्य वैभव मिलेगा।—परन्तु हे मोक्षार्थी! तुझे इनमें किसी की रुचि अर्थात् भावना नहीं करनी है। भावना तो मोक्षकी ही करना कि कब यह राग तोड़कर मोक्षदशा प्राप्त हो, क्योंकि मोक्षमें आत्मिकसुख है, स्वर्गके वैभवमें सुख नहीं, वहाँ भी आकुलताके अंगारे हैं। धर्मीको भी स्वर्गमें जितना राग और विषयतृष्णाका भाव है उतना क्लेश है धर्मीको उससे छूटनेकी भावना है। ऐसी भावनासे मोक्षके लिये जो व्रत-महाव्रत पालन करनेमें आवें वे सर्व सफल हैं और इससे विपरीत संसारके स्वर्गादिके सुखकी भावनासे जो कुछ करनेमें आवे वह दुःखका और भवभ्रमणका कारण है। इसलिये मोक्षार्थी भव्योंको आत्माकी श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव करके वीतरागताकी भावनासे शक्तिअनुसार व्रत-महाव्रत करना चाहिये। जैसे, किसी ने इष्ट स्थान जानेका सच्चा मार्ग जान लिया है परन्तु चलनेमें थोड़ी देर लगती है तो भी वह मार्गमें ही है, उसी प्रकार धर्मी जीवने वीतरागताका मार्ग देखा है, रागरहित स्वभावको जाना है, परन्तु सर्वथा राग दूर करनेमें थोड़ा समय लगता है, तो भी वह मोक्षके मार्गमें ही है। परन्तु जिसने सच्चा मार्ग नहीं जाना, विपरीत मार्ग माना है वह शुभराग करे तो भी संसारके मार्गमें है।

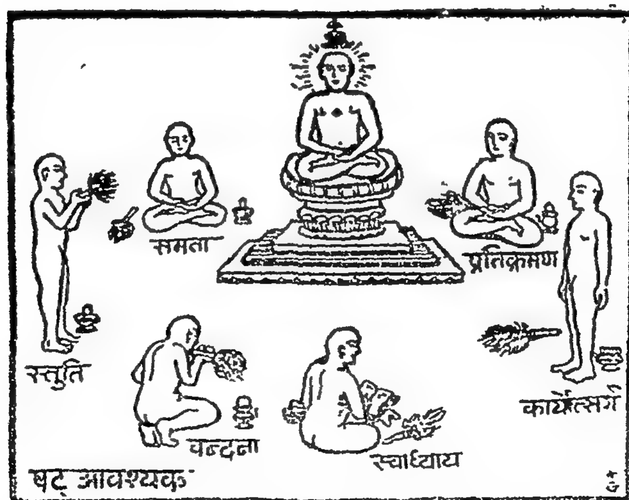
'निश्चयसे वीतरागमार्ग ही मोक्षका साधन है, शुभराग वास्तवमें मोक्षका साधन नहीं'—ऐसा कहने पर किसीको बात न रुचे तो कहते हैं कि भाई, हम अन्य क्या बतावें। वीतरागदेव द्वारा कहा हुआ सत्यमार्ग ही यह है। जिस प्रकार पद्मनन्दी स्वामी ब्रह्मचर्य-अष्टकमें ब्रह्मचर्यका उत्तम वर्णन करके अन्तमें कहते हैं कि—जो मुमुक्षु है उसके लिये स्त्री-संगके निषेधका यह उपदेश मैंने दिया है, परन्तु जो जीव भोगरूपी रागके सागरमें डूबे हुये हैं उन्हें इस ब्रह्मचर्यका उपदेश न रुचे तो वे मेरे पर क्रोध न करें, क्योंकि मैं तो मुनि हूँ; मुनिके पास तो यही वीतरागी उपदेश होता है, कोई रागके पोषणकी बात मुनिके पास नहीं होती। उसी प्रकार यहाँ मोक्षके पुरुषार्थमें पुण्यका निषेध किया गया है, वहाँ रागकी रुचिवाले किसी जीवको वह न रुचे तो क्षमा करना, क्योंकि सन्तोंका उपदेश तो मोक्षकी प्रधानताका है इसलिये उसमें रागको

आदरणीय कैसे कहा जाय? भाई, तुझसे संपूर्ण राग अभी चाहे न छूट सके, परन्तु यह छोड़ने योग्य है ऐसा सच्चा ध्येय तो पहले ही ठीक कर। ध्येय सच्चा होगा तो वहाँ पहुंचेगा। परन्तु ध्येय ही खोटा रखोगे—रागका ध्येय रखोगे तो राग तोड़कर वीतरागता कहाँसे लाओगे? अतः सत्यमार्ग वीतरागी सन्तोंने प्रसिद्ध किया है।

* * *

सर्वज्ञताको साधते-साधते वन विहारी सन्त पद्मनन्दी मुनिराजने यह शास्त्र रचा है, आत्माकी शक्तिमें जो पूर्ण आनन्द भरा है उसकी प्रतीति करके उसमें लीन होकर बोलते थे, सिद्ध भगवानके साथ स्वानुभव द्वारा बातें करते थे और सिद्ध प्रभु जैसे अतीन्द्रिय-आनन्दका बहुत अनुभव करते थे, तब उन्होंने भव्य जीवों पर करुणा करके यह शास्त्र रचा है। उसमें कहते हैं कि अरे जीव! सबसे पहले तू सर्वज्ञदेवको पहिचान। सर्वज्ञदेवको पहिचानते ही तेरी सच्ची जाति तुझे पहिचाननेमें आ सकेगी।





# [ २७ ]

# श्रावकधर्मकी आराधनाका अंतिम फल—मोक्ष

卐

श्रावकधर्मका अधिकार पूर्ण करते हुए मंगल आशीर्वाद पूर्वक श्री मुनिराज कहते हैं कि इस श्रावकधर्मका प्रकाश जयवन्त रहो... ऐसे धर्मके आराधक जीव जयवन्त रहो! धर्मकी आराधना द्वारा ही मनुष्यभवकी सफलता है।

卐

इस देशव्रत-उद्योतन अधिकारमें श्री पद्मनन्दी मुनिराजने श्रावकके धर्मका बहुत वर्णन २६ गाथामें किया है। अब अंतिम गाथामें आशीर्वाद पूर्वक अधिकार समाप्त करते हुये कहते हैं कि उत्तम कल्याणकी परम्परा पूर्वक मोक्षफल देनेवाला यह देश व्रतका प्रकाश जयवन्त रहे—

यत्कल्याणपरम्परार्पणपरं भव्यात्मनां संसृतौ<br>
पर्यन्ते यदनन्तसौख्यसदनं मोक्षं ददाति ध्रुवम्।<br>
तज्जीयादतिदुर्लभं सुनरतामुख्यैर्गुणैः प्रापितं<br>
श्रीमत्पंकजनंदिभिर्विरचितं देशव्रतोद्योतनम् ॥ २७ ॥

धर्मी जीवके लिये यह देशव्रत संसारमें तो उत्तम कल्याणकी परम्परा (चक्रवर्ती-पद, इन्द्रपद, तीर्थंकरपद आदि) देने वाला है और अंतमें अनन्तसुखका धाम ऐसे मोक्षको अवश्य देता है। श्री पद्मनन्दी मुनिने जिसका वर्णन किया है, तथा उत्तम दुर्लभ मनुष्यपना और सम्यग्दर्शनादि गुणके द्वारा जिसकी प्राप्ति होती है—ऐसे देशव्रतका उद्योतन (प्रकाश) जयवन्त रहे।

जो जीव धर्मी है, जिसे आत्माका भान है, जो मोक्षमार्गकी साधनामें तत्पर है उसे व्रत-महाव्रतके रागसे ऐसा ऊँचा पुण्य बँधता है कि चक्रवर्तीपना, तीर्थंकरपना आदि लोकोत्तर पदवी मिल जाती है, पंचकल्याणक आदिकी कल्याण परम्परा उसे प्राप्त होती है, और अन्तमें राग तोड़कर वह मोक्ष पाता है।

देखो! यह मनुष्यपनेकी सफलताका उपाय! जीवनमें जिसने धर्मका उल्लास नहीं किया, आत्महितके लिये रागादि नहीं घटाये और मात्र विषय-भोगके पाप भावमें ही जीवन बिताया है वह तो निष्फल अवतार गुमाकर संसारमें ही परिभ्रमण करता है। जब कि धर्मात्मा श्रावक तो आत्महितका उपाय करता है, सम्यग्दर्शन सहित व्रतादि पालन करता है और स्वर्गमें जाकर वहाँसे मनुष्य होकर मुनिपना लेकर मुक्ति प्राप्त करता है।

भाई, ऐसा उत्तम मनुष्यपना और उसमें भी धर्मात्माके संगका ऐसा योग संसारमें बहुत दुर्लभ है; महा भाग्यसे तुझे ऐसा सुयोग मिला है तो इसमें सर्वज्ञकी पहिचानकर सम्यक्त्वादि गुण प्रगट कर। और उसके पश्चात् शक्ति अनुसार व्रत अंगीकार कर, दान आदि कर। उस दानका तो बहुत प्रकारसे उपदेश किया। वहाँ कोई कहे कि—आप दानकी तो बात करते हो, परन्तु हमें आगे-पीछेका (स्त्री-पुत्रादिका) कोई विचार करना या नहीं?—तो कहते हैं कि भाई, तू तनिक धीरज धर! जो तुझे आगे-पीछेका तेरा हितका सच्चा विचार हो तो अभी ही तू ममता घटा, वर्तमानमें स्त्री-पुत्रादिके बहाने तू ममतामें डूबा हुआ है और अपने भविष्यके हितका विचार नहीं करता। भविष्यमें मैं मर जाऊँगा तो स्त्री-पुत्रादिका क्या होगा—इस प्रकार उनका विचार करता है, परन्तु भविष्यमें तेरी आत्माका क्या होगा—इसका विचार क्यों नहीं करता? अरे, राग तोड़कर समाधि करनेका समय आया उसमें फिर आगे-पीछेका अन्य क्या विचार करना? जगतके जीवोंको संयोग-वियोग तो अपने-अपने उदय अनुसार सबको हुआ करते हैं, ये कोई तेरे किये नहीं होते। इसलिये भाई, दूसरेका नाम लेकर तू अपनी ममताको मत बढ़ा। चाहे लाखों-करोड़ों रुपयोंकी पूँजी हो परन्तु जो दान नहीं करता तो वह हृदयका गरीब है। इसकी अपेक्षा तो थोड़ी पूँजी वाला भी जो धर्म-प्रसंगमें तन-मन-धन उल्लास पूर्वक लगाता है वह उदार है, उसकी लक्ष्मी और उसका जीवन सफल है। सरकारी टेक्स (कर) आदिमें परतंत्ररूपसे देना पड़े उसे देवे परन्तु स्वयं ही धर्मके काममें होंश पूर्वक जीव खर्च न करे तो आचार्यदेव कहते हैं कि भाई, तुझे तेरी लक्ष्मीका सदुपयोग करना नहीं आता; तुझे देव-गुरु-धर्मकी भक्ति करते नहीं आती और तुझे श्रावकधर्मका पालन करना नहीं आता, श्रावक तो देव-गुरु-धर्मके लिये उल्लास पूर्वक दानादि करता है। एक मनुष्य कहता है कि महाराज! मुझे व्यापारमें २५ लाख रुपये मिलने वाले थे, परन्तु रुक गये, जो वे मिल जायँ तो उसमेंसे ५ लाख रुपये धर्मार्थमें देनेका विचार था; इसलिये आशीर्वाद दीजिये! अरे मूर्ख? कैसा आशीर्वाद? क्या तेरे लोभ-पोषणके लिये ज्ञानी तुझे आशीर्वाद दें! ज्ञानी तो धर्मकी आराधनाका आशीर्वाद देते हैं। ५ लाख रुपये खर्च करने की बात करके वास्तवमें तो इसे २० लाख लेना है, और इसकी ममता पोषनी है। "जैसे कोई

माने कि प्रथम जहर खा लूँ पीछे उसकी दवा करूँगा "—इसके जैसे तेरी मूर्खता है। तुझे वास्तवमें धर्मका प्रेम हो और तुझे राग घटाना हो तो अभी तेरे पास जो है उसमेंसे राग घटा ना! तुझे राग घटाकर दान करना हो तो कौन तुझे रोकता है? भाई, ऐसा मनुष्यपना और ऐसा अवसर प्राप्त कर तू धन प्राप्त करने की तृष्णाके पापमें अपना जीवन नष्ट कर रहा है।—इसके बदले धर्मकी आराधना कर। धर्मकी आराधना द्वारा ही मनुष्यभवकी सफलता है। धर्मकी आराधनाके बीच पुण्यफलरूप बड़े-बड़े निधान सहज ही मिल जावेंगे,—तुझे उनकी इच्छा ही नहीं करनी पड़ेगी।—'मांगे उसके दूर और त्यागे उसके आगे'—पुण्यकी इच्छा करता है उसे पुण्य नहीं होता। मांगे उसके आगे अर्थात् कि दूर जाता है; और त्यागे उसके आगे अर्थात् जो पुण्यकी रुचि छोड़कर चैतन्यको साधता है उसको पुण्यका वैभव समक्ष आता है। धर्मी जीव आत्माका भान करके और पुण्यकी अभिलाषा सर्वथा छोड़कर मोक्ष तरफ चलने लगा है, बहुत-सा रास्ता तय कर लिया है, थोड़ा शेष है, वहाँ पुरुषार्थकी मंदतासे शुभराग हुआ अर्थात् स्वर्गादिके एक या दो उत्तम भवरूपी धर्मशालामें थोड़े समय रुकता है, उसे ऐसा ऊँचा पुण्य होता है कि जहाँ जन्मता है वहाँ समुद्रमें मोती पकते हैं, आकाशमेंसे रजकण उत्कृष्ट रत्नरूप परिणमन कर बरसते हैं, पथ्थरकी खानमें नीलमणि उत्पन्न होते हैं, राजा हो वहाँ उसे प्रजासे कर आदि नहीं लेना पड़ता। परन्तु प्रजा स्वयं चलकर देने आती है, और संत-मुनि-धर्मात्माओंका समूह और तीर्थंकरदेवका संयोग मिलता है और संतोंके सत्संगमें पुनः आराधकभाव पुष्ट कर, राज-वैभव छोड़, मुनि होकर केवलज्ञान प्रगट कर साक्षात् मोक्ष प्राप्त करता है।

सर्वज्ञदेवकी पहिचानपूर्वक श्रावकने जो धर्मकी आराधना की उसका यह उत्तम फल कहा है,—वह जयवंत हो...और उसे साधनेवाले साधक जगतमें जयवंत हों!—ऐसे आशीर्वाद सहित यह अधिकार समाप्त होता है।

(श्री पद्मनन्दीपच्चीसीके देवव्रत-उद्योतन पर
पूज्य श्री कानजीस्वामीके प्रवचन पूर्ण हुए।)



卐

# * स्वतंत्रताकी घोषणा *

[ चार बोलोंसे स्वतंत्रताकी घोषणा करता हुआ विशेष प्रवचन ]

समयसार-कलश २११ ] [ सं० २०२२ कार्तिक शुक्ला ३-४

भगवान सर्वज्ञदेवका देखा हुआ वस्तुस्वभाव कैसा है, उसमें कर्ता-कर्मपना किस प्रकार है, वह अनेक प्रकारसे दृष्टांत और युक्ति पूर्वक पुनः पुनः समझाते हुए, उस स्वभावके निर्णयमें मोक्षमार्ग किस प्रकार आता है वह पूज्य गुरुदेवने इन प्रवचनोंमें बतलाया है। इनमें पुनः पुनः भेदज्ञान कराया है और वीतरागमार्गके रहस्यभूत स्वतंत्रताकी घोषणा करते हुए कहा है कि—सर्वज्ञदेव द्वारा कहे हुए इस परम सत्य वीतराग-विज्ञानको जो समझेगा उसका अपूर्व कल्याण होगा।

कर्ता-कर्म सम्बन्धी भेदज्ञान कराते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥ २११ ॥

वस्तु स्वयं अपने परिणामकी कर्ता है, और अन्यके साथ उसका कर्ता-कर्मका सम्बन्ध नहीं है—इस सिद्धांतको आचार्यदेवने चार बोलोंसे स्पष्ट समझाया है:—

(१) परिणाम अर्थात् पर्याय ही कर्म है-कार्य है।

(२) परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामीके ही होते हैं, अन्यके नहीं होते। क्योंकि परिणाम अपने अपने आश्रयभूत परिणामी ( द्रव्य )के आश्रयसे होते हैं। अन्यके परिणाम अन्यके आश्रयसे नहीं होते।

(३) कर्म कर्त्ताके बिना नहीं होता, अर्थात् परिणाम वस्तुके बिना नहीं होते।

(४) वस्तुकी निरन्तर एक समान स्थिति नहीं रहती, क्योंकि वस्तु द्रव्य-पर्याय-स्वरूप है।

इस प्रकार आत्मा और जड़ सभी वस्तुएँ स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्मकी कर्त्ता हैं—ऐसा वस्तुस्वरूपका महान सिद्धांत आचार्यदेवने समझाया है और उसीका यह प्रवचन है। इस प्रवचनमें अनेक प्रकारसे स्पष्टीकरण करते हुए गुरुदेवने भेदज्ञानको पुनः पुनः समझाया है।

* * *

देखो, इसमें वस्तुस्वरूपको चार बोलों द्वारा समझाया है। इस जगतमें छह वस्तुएँ हैं, आत्मा अनन्त हैं, पुद्गलपरमाणु अनन्त हैं तथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल,—ऐसी छहों प्रकारकी वस्तुएँ और उनके स्वरूपका वास्तविक नियम क्या है? सिद्धान्त क्या है? उसे यहाँ चार बोलोंमें समझाया जा रहा है:—

### (१) परिणाम ही कर्म है।

प्रथम तो 'ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः' अर्थात् परिणामी वस्तुके जो परिणाम हैं वही निश्चयसे उसका कर्म हैं। कर्म अर्थात् कार्य; परिणाम अर्थात् अवस्था; पदार्थकी अवस्था ही वास्तवमें उसका कर्म-कार्य है। परिणामी अर्थात् अखण्ड वस्तु; वह जिस भावसे परिणमन करे उसको परिणाम कहते हैं। परिणाम कहो, कार्य कहो, पर्याय कहो या कर्म कहो-वह वस्तुके परिणाम ही हैं।

जैसे कि—आत्मा ज्ञानगुणस्वरूप है; उसका परिणमन होनेसे जानने की पर्याय हुई वह उसका कर्म है, वह उसका वर्तमान कार्य है। राग या शरीर वह कोई ज्ञानका कार्य नहीं, परन्तु 'यह राग है, यह शरीर है'-ऐसा उन्हें जाननेवाला जो ज्ञान है वह आत्माका कार्य है। आत्माके परिणाम वह आत्माका कार्य है और जड़के परिणाम अर्थात् जड़की अवस्था वह जड़का कार्य है;—इस प्रकार एक बोल पूर्ण हुआ।

### (२) परिणाम वस्तुका ही होता है, दूसरेका नहीं।

अब, इस दूसरे बोलमें कहते हैं कि-जो परिणाम होता है वह परिणामी पदार्थका ही होता है; परिणाम किसी अन्यके आश्रयसे नहीं होता। जिस प्रकार श्रवणके समय जो ज्ञान होता है वह कार्य है-कर्म है। वह किसका कार्य है? वह कहीं शब्दोंका कार्य नहीं है, परन्तु परिणामी वस्तु जो आत्मा है उसीका वह कार्य है। परिणामीके बिना परिणाम

नहीं होता। आत्मा परिणामी है—उसके बिना ज्ञानपरिणाम नहीं होता-यह सिद्धांत है, परन्तु वाणीके विना ज्ञान नहीं होता—यह बात सच नहीं है। शब्दोंके विना ज्ञान नहीं होता—ऐसा नहीं, परन्तु आत्माके बिना ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार परिणामीके आश्रयसे ही ज्ञानादि परिणाम हैं।

देखो, यह महा सिद्धांत है, वस्तुस्वरूपका यह अबाधित नियम है।

परिणामीके आश्रयसे ही उसके परिणाम होते हैं। जाननेवाला आत्मा वह परिणामी है, उसके आश्रित ही ज्ञान होता है; वे ज्ञानपरिणाम आत्माके हैं, वाणीके नहीं। वाणीके रजकणोंके आश्रित ज्ञानपरिणाम नहीं होते, परन्तु ज्ञानस्वभावी आत्मवस्तुके आश्रयसे वे परिणाम होते हैं। आत्मा त्रिकाल स्थित रहनेवाला परिणामी है, वह स्वयं रूपांतर होकर नवीन-नवीन अवस्थाओंको धारण करता है। उसके ज्ञान-आनन्द इत्यादि जो वर्तमान भाव हैं वे उसके परिणाम हैं।

'परिणाम' परिणामीके ही हैं अन्यके नहीं—इसमें जगतके सभी पदार्थोंका नियम आ जाता है। परिणाम परिणामीके ही आश्रित होते हैं, अन्यके आश्रित नहीं होते। ज्ञानपरिणाम आत्माके आश्रित हैं, भाषा आदि अन्यके आश्रित ज्ञानके परिणाम नहीं हैं। इसलिये इसमें परकी ओर देखना नहीं रहता; परन्तु अपनी वस्तुके सामने देखकर स्वसन्मुख परिणमन करना रहता है; उसमें मोक्षमार्ग आ जाता है।

वाणी तो अनन्त जड़ परमाणुओंकी अवस्था है, वह अपने परमाणुओंके आश्रित है। बोलनेकी जो इच्छा हुई उसके आश्रित भाषाके परिणाम तीन कालमें नहीं हैं। जब इच्छा हुई और भाषा निकली उस समय उसका जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान आत्माके आश्रयसे हुआ है। भाषाके आश्रयसे तथा इच्छाके आश्रयसे ज्ञान नहीं हुआ है।

परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामीके ही होते हैं, अन्यके आश्रयसे नहीं होते, —इस प्रकार अस्ति-नास्तिसे अनेकान्त द्वारा वस्तुस्वरूप समझाया है। सत्यके सिद्धांतकी अर्थात् वस्तुके सत्‌स्वरूपकी यह बात है, उसको पहिचाने बिना मूढ़ता पूर्वक अज्ञानतामें ही जीवन पूर्ण कर डालता है। परन्तु भाई! आत्मा क्या? जड़ क्या? उसकी भिन्नता समझकर वस्तुस्वरूपके वास्तविक सत्‌को समझे विना ज्ञानमें सत्‌पना नहीं आता, अर्थात् सम्यग्ज्ञान नहीं होता, वस्तुस्वरूपके सत्य ज्ञानके विना रुचि और श्रद्धा भी नहीं होती, और सच्ची श्रद्धाके विना वस्तुमें स्थिरतारूप चारित्र प्रगट नहीं होता, शान्ति नहीं होती समाधान और सुख नहीं होता। इसलिये वस्तुस्वरूप क्या है उसे प्रथम समझना चाहिये।

वस्तुस्वरूपको समझनेसे मेरे परिणाम परसे और परके परिणाम मुझसे—ऐसी पराश्रित बुद्धि नहीं रहती अर्थात् स्वाश्रत-स्वसन्मुख परिणाम प्रगट होता है, यही धर्म है।

आत्माको जो ज्ञान होता है उसको जाननेके परिणाम आत्माके आश्रित हैं, वे परिणाम वाणीके आश्रयसे नहीं हुए हैं, कानके आश्रयसे नहीं हुए हैं, तथा उस समयकी इच्छाके आश्रयसे भी नहीं हुए हैं। यद्यपि इच्छा भी आत्माके परिणाम हैं, प्ररन्तु उन परिणामोंके आश्रित ज्ञानपरिणाम नहीं हैं, ज्ञानपरिणाम आत्मवस्तुके आश्रित हैं;-इसलिये वस्तु सन्मुख दृष्टि कर।

बोलनेकी इच्छा हो, होंठ हिलें, भाषा निकले और उस समय उस प्रकारका ज्ञान हो,- ऐसी चारों क्रियाएँ एक साथ होते हुये भी कोई क्रिया किसीके आश्रित नहीं, सभी अपने अपने परिणामीके ही आश्रित हैं। इच्छा वह आत्माके चारित्रगुणके परिणाम हैं, होंठ हिले वह होंठके रजकणोंकी अवस्था है, वह अवस्था इच्छाके आधारसे नहीं हुई। भाषा प्रगट हो वह भाषावर्गणाके रजकणोंकी अवस्था है वह अवस्था इच्छाके आश्रित या होंठके आश्रित नहीं हुई, परन्तु परिणामी ऐसे रजकणोंके आश्रयसे वह भाषा उत्पन्न हुई है और उस समयका ज्ञान आत्मवस्तुके आश्रित है, इच्छा अथवा भाषाके आश्रित नहीं है, ऐसा वस्तुस्वरूप है।

भाई, तीन काल तीन लोकमें सर्वज्ञ भगवानका देखा हुआ यह वस्तुस्वभाव है; उसे जाने विना और समझनेकी परवाह विना अन्धेकी भाँति चला जाता है, परन्तु वस्तुस्वरूपके सच्चे ज्ञानके विना किसी प्रकार कहीं भी कल्याण नहीं हो सकता। इस वस्तुस्वरूपको बारम्बार लक्षमें लेकर परिणामोंमें भेदज्ञान करनेके लिये यह बात है। एक वस्तुके परिणाम अन्य वस्तुके आश्रित तो हैं नहीं, परन्तु उस वस्तुमें भी उसके एक परिणामके आश्रित दूसरे परिणाम नहीं हैं। परिणामी वस्तुके आश्रित ही परिणाम हैं। यह महान सिद्धान्त है।

प्रतिक्षण इच्छा, भाषा और ज्ञान यह तीनों एक साथ होते हुए भी इच्छा और ज्ञान जीवके आश्रित हैं और भाषा वह जड़के आश्रित है; इच्छाके कारण भाषा हुई और भाषाके कारण ज्ञान हुआ-ऐसा नहीं; उसी प्रकार इच्छाके आश्रित ज्ञान भी नहीं। इच्छा और ज्ञान यह दोनों हैं तो आत्माके परिणाम तथापि एकके आश्रित दूसरेके परिणाम नहीं हैं। ज्ञानपरिणाम और इच्छापरिणाम दोनों भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञान वह इच्छाका कार्य नहीं है और इच्छा वह ज्ञानका कार्य नहीं है। जहाँ ज्ञानका कार्य इच्छा भी नहीं, वहाँ जड़ भाषा आदि तो उसका कार्य कहाँसे हो सकता है? वह तो जड़का कार्य है।

जगतमें जो भी कार्य होते हैं वह सत्की अवस्था होती है, किसी वस्तुके परिणाम होते हैं, परन्तु वस्तुके विना अधरसे परिणाम नहीं होते। परिणामीका परिणाम होता है, नित्य स्थित वस्तुके आश्रित परिणाम होते हैं, परके आश्रित नहीं होते।

परमाणुमें होंठोंका हिलना और भाषाका परिणमन—यह दोनों भी भिन्न वस्तु हैं। आत्मामें इच्छा और ज्ञान-यह दोनों परिणाम भी भिन्न-भिन्न हैं।

होंठ हिलनेके आश्रित भाषाकी पर्याय नहीं है। होंठका हिलना वह होंठके पुद्‌गलोंके आश्रित है, भाषाका परिणमन वह भाषाके पुद्‌गलोंके आश्रित है।

होंठ और भाषा, इच्छा और ज्ञान

—इन चारोंका काल एक होनेपर भी चारों परिणाम अलग हैं।

उसमें भी इच्छा और ज्ञान-यह दोनों परिणाम आत्माश्रित होनेपर भी इच्छा-परिणामके आश्रित ज्ञानपरिणाम नहीं है। ज्ञान वह आत्माका परिणाम है, इच्छाका नहीं; इसी प्रकार इच्छा वह आत्माका परिणाम है, ज्ञानका नहीं। इच्छाको जाननेवाला ज्ञान वह इच्छाका कार्य नहीं है, उसी प्रकार वह ज्ञान इच्छाको उत्पन्न नहीं करता। इच्छा-परिणाम आत्माका कार्य अवश्य है परन्तु ज्ञानका कार्य नहीं। भिन्न भिन्न गुणके परिणाम भिन्न भिन्न हैं, एक ही द्रव्यमें होने पर भी एक गुणके आश्रित दूसरे गुणके परिणाम नहीं हैं।

कितनी स्वतंत्रता!! और इसमें परके आश्रयकी तो बात ही कहाँ रही?

आत्मामें चारित्रगुण इत्यादि अनन्तगुण हैं. उनमें चारित्रके विकृत परिणाम सो इच्छा है, वह चारित्रगुणके आश्रित है, और उस समय उस इच्छाका ज्ञान हुआ वह ज्ञानगुणरूप परिणामीके परिणाम हैं, वह कहीं इच्छाके परिणामके आश्रित नहीं हैं। इस-प्रकार इच्छा परिणाम और ज्ञान परिणाम दोनोंका भिन्न परिणमन है, एक-दूसरेके आश्रित नहीं हैं।

सत् जैसा है उसी प्रकार उसका ज्ञान करे तो सत् ज्ञान हो, और सत्का ज्ञान करे तो उसका बहुमान एवं यथार्थका आदर प्रगट हो, रुचि हो, श्रद्धा दृढ़ हो और उसमें स्थिरता हो, उसे धर्म कहा जाता है। सत्से विपरीत ज्ञान करे उसे धर्म नहीं होता। स्वमें स्थिरता ही मूल धर्म है, परन्तु वस्तुस्वरूपके सच्चे ज्ञान विना स्थिरता कहाँ करेगा?

आत्मा और शरीरादि रजकण भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं; शरीरकी अवस्था, हलन-चलन-बोलना, वह उसके परिणामी पुद्गलोंका परिणाम है, उन पुद्गलोंके आश्रित वह परिणाम उत्पन्न हुए हैं, इच्छाके आश्रित नहीं; उसी प्रकार इच्छाके आश्रित ज्ञान भी नहीं है। पुद्गलके परिणाम आत्माके आश्रित मानना, और आत्माके परिणाम पुद्गलाश्रित मानना, उसमें तो विपरीत मान्यतारूप मूढ़ता है।

जगतमें भी जो वस्तु जैसी हो उससे विपरीत बतलानेवालेको लोग मूर्ख कहते हैं, तो फिर सर्वज्ञ कथित यह लोकोत्तर वस्तुस्वभाव जैसा है वैसा न मानकर विरुद्ध माने तो लोकोत्तर मूर्ख और अविवेकी है, विवेकी और विचक्षण कब कहा जाय? कि वस्तुके जो परिणाम हुए उसे कार्य मानकर, उसे परिणामी-वस्तुके आश्रित समझे और दूसरेके आश्रित न माने, तब स्व-परका भेदज्ञान होता है, और तभी विवेकी है ऐसा कहनेमें आता है। आत्माके परिणाम परके आश्रयसे नहीं होते। विकारी और अविकारी जो भी परिणाम जिस वस्तुके हैं वह उसी वस्तुके आश्रित हैं, अन्यके आश्रित नहीं।

पदार्थके परिणाम वही उसका कार्य है—यह एक बात; दूसरी बात यह कि वह परिणाम उसी वस्तुके आश्रयसे होते हैं, अन्यके आश्रयसे नहीं होते।—यह नियम जगतके समस्त पदार्थोंमें लागू होते हैं।

देखो, भाई! यह तो भेदज्ञानके लिये वस्तुस्वभावके नियम बतलाये गये हैं। धीरे-धीरे दृष्टांतसे, युक्तिसे वस्तुस्वरूप सिद्ध किया जाता है।

किसीको ऐसे भाव उत्पन्न हुए कि सौ रुपये दानमें दूँ, उसके वह परिणाम आत्मवस्तुके आश्रित हुए हैं; वहाँ रुपये जानेकी जो क्रिया होती है वह रुपयेके रजकणोंके आश्रित है, जीवकी इच्छाके आश्रित नहीं। अब उस समय उन रुपयोंकी क्रियाका ज्ञान, अथवा इच्छाके भावका ज्ञान होता है वह ज्ञानपरिणाम आत्माश्रित हुआ है-इस प्रकार परिणामोंका विभाजन करके वस्तुस्वरूपका ज्ञान करना चाहिये।

भाई, तेरा ज्ञान और तेरी इच्छा, यह दोनों परिणाम आत्मामें होते हुए भी वे एक-दूसरेके आश्रित नहीं हैं, तो फिर परके आश्रयकी तो बात ही कहाँ रही? दानकी इच्छा हुई और रुपये दिये गये, वहाँ रुपये जानेकी क्रिया भी हाथके आश्रित नहीं, हाथका हिलना इच्छाके आश्रित नहीं, और इच्छाका परिणमन वह ज्ञानके आश्रित नहीं है। सभी अपने-अपने आश्रयभूत वस्तुके आधारसे हैं।

देखो, यह सर्वज्ञके विज्ञानपाठ हैं; ऐसा वस्तुस्वरूपका ज्ञान सच्चा पदार्थ विज्ञान है। जगतके पदार्थोंका स्वभाव ही ऐसा है कि वे सदा एकरूप नहीं रहते, परन्तु परिणमन-

करके नवीन नवीन अवस्थारूप कार्य किया करते हैं,—यह बात चौथे बोलमें कही जायगी। जगतके पदार्थोंका स्वभाव ऐसा है कि वह नित्य स्थायी रहे और उसमें प्रतिक्षण नवीन-नवीन अवस्थारूप कार्य उसके अपने आश्रित हुआ करे। वस्तुस्वभावका ऐसा ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

जीवको इच्छा हुई इसलिये हाथ हिला और सौ रुपये दिये गये—ऐसा नहीं है।
इच्छाका आधार आत्मा है, हाथ और रुपयोंका आधार परमाणु है।
रुपये जाने थे इसलिये इच्छा हुई ऐसा भी नहीं है।
हाथका हलन-चलन वह हाथके परमाणुओंके आधारसे है।
रुपयोंका आना-जाना वह रुपयोंके परमाणुओंके आधारसे है।
इच्छाका होना वह आत्माके चारित्रगुणके आधारसे है।

यह तो भिन्न-भिन्न द्रव्यके परिणामकी भिन्नताकी बात हुई; यहाँ तो उससे भी आगे अन्तरकी बात लेना है। एक ही द्रव्यके अनेक परिणाम भी एक-दूसरेके आश्रित नहीं हैं—ऐसा बतलाना है। राग और ज्ञान दोनोंके कार्य भिन्न हैं, एक-दूसरेके आश्रित नहीं हैं।

किसीने गाली दी और जीवको द्वेषके पाप-परिणाम हुए, वहाँ वे पापके परिणाम प्रतिकूलताके कारण नहीं हुए, और गाली देने वालेके आश्रित भी नहीं हुए, परन्तु चारित्रगुणके आश्रित हुए हैं, चारित्रगुणने उस समय उस परिणामके अनुसार परिणमन किया है। अन्य तो निमित्तमात्र हैं।

अब द्वेषके समय उसका ज्ञान हुआ कि 'मुझे यह द्वेष हुआ'—यह ज्ञानपरिणाम ज्ञानगुणके आश्रित है, क्रोधके आश्रित नहीं है। ज्ञानस्वभावी द्रव्यके आश्रित ज्ञान-परिणाम होते हैं, अन्यके आश्रित नहीं होते। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन परिणाम सम्यग्ज्ञान परिणाम, आनन्द परिणाम इत्यादिमें भी ऐसा ही समझना। यह ज्ञानादि परिणाम द्रव्यके आश्रित हैं, अन्यके आश्रित नहीं हैं, तथा परस्पर एक-दूसरेके आश्रित भी नहीं हैं।

गालीके शब्द अथवा द्वेषके समय उसका ज्ञान हुआ, वह ज्ञान शब्दोंके आश्रित नहीं है और क्रोधके आश्रित भी नहीं है, उसका आधार तो ज्ञानस्वभावी वस्तु है -इसलिये उसके ऊपर दृष्टि लगा तो तेरी पर्यायमें मोक्षमार्ग प्रगट हो; इस मोक्षमार्गरूपी कार्यका कर्ता भी तू ही है, अन्य कोई नहीं।

अहो, यह तो सुगम और स्पष्ट बात है। लौकिक पढ़ाई अधिक न की हो, तथापि यह समझमें आ जाये ऐसा है। जरा अन्तरमें उतर कर लक्षमें लेना चाहिये कि

आत्मा अस्तिरूप है, उसमें अनन्तगुण हैं, ज्ञान है, आनन्द है, श्रद्धा है, अस्तित्व है इस प्रकार अनन्तगुण हैं। इन अनन्तगुणोंके भिन्न-भिन्न अनन्त परिणाम प्रति समय होते हैं, उन सभीका आधार परिणामी ऐसा आत्मद्रव्य है, अन्य वस्तु तो उसका आधार नहीं है, परन्तु अपनेमें दूसरे गुणोंके परिणाम भी उसका आधार नहीं हैं,—जैसे कि-श्रद्धापरिणामका आधार ज्ञानपरिणाम नहीं है और ज्ञानपरिणामका आधार श्रद्धा नहीं है; दोनों परिणामोंका आधार आत्मा ही है। उसी प्रकार सर्व गुणोंके परिणामोंके लिये समझना। इस प्रकार परिणाम परिणामीका ही है, अन्यका नहीं।

इस २११ वें कलशमें आचार्यदेव द्वारा कहे गये वस्तुस्वरूपके चार बोलोंमेंसे अभी दूसरे बोलका विवेचन चल रहा है। प्रथम तो कहा कि 'परिणाम एव किल कर्म' और फिर कहा कि 'स भवति परिणामिन एव, न अपरस्य भवेत्' परिणाम ही कर्म है, और वह परिणामीका ही होता है, अन्यका नहीं;-ऐसा निर्णय करके स्वद्रव्यसन्मुख लक्ष जानेसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है।

सम्यग्दर्शन परिणाम हुए वह आत्माका कर्म है, वह आत्मारूप परिणामीके आधारसे हुए हैं। पूर्वके मन्दरागके आश्रयसे अथवा वर्तमानमें शुभरागके आश्रयसे वे सम्यग्दर्शन परिणाम नहीं हुए। यद्यपि राग भी है तो आत्माका परिणाम, परन्तु श्रद्धा-परिणामसे रागपरिणाम अन्य हैं, वे श्रद्धाके परिणाम रागके आश्रित नहीं हैं। क्योंकि परिणाम परिणामीके ही आश्रयसे होते हैं, अन्यके आश्रयसे नहीं होते।

उसी प्रकार अब चारित्रपरिणाममें—आत्मस्वरूपमें स्थिरता वह चारित्रका कार्य है; वह कार्य श्रद्धा परिणामके आश्रित नहीं, ज्ञानके आश्रित नहीं, परन्तु चारित्रगुण धारण करने वाले आत्माके ही आश्रित है। शरीरादिके आश्रयसे चारित्र नहीं है।

श्रद्धाके परिणाम आत्मद्रव्यके आश्रित हैं;
ज्ञानके परिणाम आत्मद्रव्यके आश्रित हैं;
स्थिरताके परिणाम आत्मद्रव्यके आश्रित हैं;
आनन्दके परिणाम आत्मद्रव्यके आश्रित हैं।

बस, मोक्षमार्गके सभी परिणाम स्वद्रव्याश्रित हैं, अन्यके आश्रित नहीं हैं; उस समय अन्य (रागादि) परिणाम होते हैं उनके आश्रित भी यह परिणाम नहीं हैं। एक समयमें श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र इत्यादि अनन्त गुणोंके परिणाम वह धर्म, उसका आधार धर्मी अर्थात् परिणमित होनेवाली वस्तु है; उस समय अन्य जो अनेक परिणाम होते हैं उनके

आधारसे श्रद्धा इत्यादिके परिणाम नहीं हैं। निमित्तादिके आधारसे तो नहीं हैं, परन्तु अपने दूसरे परिणामके आधारसे भी कोई परिणाम नहीं है। एक ही द्रव्यमें एकसाथ होनेवाले परिणामोंमें भी एक परिणाम दूसरे परिणामके आश्रित नहीं; द्रव्यके ही आश्रित सभी परिणाम हैं, सभी परिणामोंरूपसे परिणमन करनेवाला द्रव्य ही है–अर्थात् द्रव्य सन्मुख लक्ष जाते ही सम्यक् पर्यायें प्रगट होने लगती हैं।

वाह! देखो, आचार्यदेवकी शैली थोड़ेमें बहुत समा देने की है। चार बोलोंके इस महान सिद्धांतमें वस्तुस्वरूपके बहुतसे नियमोंका समावेश हो जाता है। यह त्रिकाल सत्य सर्वज्ञ द्वारा निश्चित किया हुआ सिद्धांत है। अहो, यह परिणामीके परिणामकी स्वाधीनता, सर्वज्ञदेव द्वारा कहा हुआ वस्तुस्वरूपका तत्त्व, सन्तोंने इसका विस्तार करके आश्चर्यकारी कार्य किया है, पदार्थका पृथक्करण करके भेदज्ञान कराया है। अन्तरमें इसका मंथन करके देख तो मालूम हो कि अनन्त सर्वज्ञों तथा संतोंने ऐसा ही वस्तु-स्वरूप कहा है और ऐसा ही वस्तुका स्वरूप है।

सर्वज्ञ भगवंत दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा तत्त्व कहते आये हैं–ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है; दिव्यध्वनि तो परमाणुओंके आश्रित है।

कोई कहे कि अरे, दिव्यध्वनि भी परमाणु-आश्रित है? हाँ, दिव्यध्वनि वह पुद्‌गलका परिणाम है, और पुद्‌गलपरिणामका आधार तो पुद्‌गल द्रव्य ही होता है; जीव उसका आधार नहीं हो सकता। भगवानका आत्मा तो अपने केवलज्ञानादिका आधार है। भगवानका आत्मा तो केवलज्ञान–दर्शन–सुख इत्यादि निज-परिणामरूप परिणमन करता है, परन्तु कहीं देह और वाणीरूप अवस्था धारण करके भगवानका आत्मा परिणमित नहीं होता, उस रूप तो पुद्‌गल ही परिणमित होता है। परिणाम परिणामीके होते हैं, अन्यके नहीं।

भगवानकी सर्वज्ञताके आधारसे दिव्यध्वनिके परिणाम हुए–ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। भाषा परिणाम अनन्त पुद्‌गलाश्रित है, और सर्वज्ञता आदि परिणाम जीवाश्रित है; इस प्रकार दोनोंकी भिन्नता है। कोई किसीका कर्ता या आधार नहीं है।

देखो, यह भगवान आत्माकी अपनी बात है। समझमें नहीं आयगी, ऐसा नहीं मानना; अन्तर्‌लक्ष करे तो समझमें आये–ऐसी सरल है। देखो, लक्षमें लो कि अन्दर कोई वस्तु है या नहीं? और यह जो जाननेके या रागादिके भाव होते हैं इन भावोंका कर्ता कौन है? आत्मा स्वयं उनका कर्ता है।–इस प्रकार आत्माको लक्षमें लेनेके लिये

दूसरी पढ़ाईकी कहाँ आवश्यकता है? दुनियाकी बेगार करके दुःखी होता है उसके बदले वस्तुस्वभावको समझे तो कल्याण हो जाये। अरे जीव! ऐसे सुन्दर न्याय द्वारा सन्तोंने वस्तुस्वरूप समझाया है उसे तू समझ।

वस्तुस्वरूपके दो बोल हुए। अब तीसरा बोलः—

## (३) कर्ताके बिना कर्म नहीं होता

कर्ता अर्थात् परिणमित होनेवाली वस्तु और कर्म अर्थात् उसकी अवस्थारूप कार्य; कर्ताके बिना कर्म नहीं होता; अर्थात् वस्तुके बिना पर्याय नहीं होती; सर्वथा शून्यमेंसे कोई कार्य उत्पन्न हो जाये ऐसा नहीं होता।

देखो, यह वस्तुविज्ञानके महान सिद्धान्त हैं, इस २११ वें कलशमें चार बोलों द्वारा चारों पक्षोंसे स्वतंत्रता सिद्ध की है। विदेशोंमें अज्ञानकी पढ़ाईके पीछे हैरान होते हैं, उसकी अपेक्षा सर्वज्ञदेव कथित इस परम सत्य वीतरागी विज्ञानको समझे तो अपूर्व कल्याण हो।

(१) परिणाम सो कर्म; यह एक बात।

(२) वह परिणाम किसका?-कि परिणामी वस्तुका परिणाम है, दूसरेका नहीं। यह दूसरा बोल; इसका बहुत विस्तार किया है।

अब इस तीसरे बोलमें कहते हैं कि—परिणामीके बिना परिणाम नहीं होता। परिणामी वस्तुसे भिन्न अन्यत्र कहीं परिणाम हो ऐसा नहीं होता। परिणामी वस्तुमें ही उसके परिणाम होते हैं, इसलिये परिणामी वस्तु वह कर्ता है, उसके बिना कार्य नहीं होता। देखो, इसमें निमित्तके बिना कार्य नहीं होता—ऐसा नहीं कहा। निमित्त निमित्तमें रहता है, वह कहीं इस कार्यमें नहीं आ जाता, इसलिये निमित्तके बिना कार्य है परन्तु परिणामीके बिना कार्य नहीं होता। निमित्त भले हो, परन्तु उसका अस्तित्व तो निमित्तमें है, इसमें उसका अस्तित्व नहीं है। परिणामी वस्तुकी सत्तामें ही उसका कार्य होता है। आत्माके बिना सम्यक्त्वादि परिणाम नहीं होते। अपने समस्त परिणामोंका कर्ता आत्मा है, उसके बिना कर्म नहीं होता। "कर्म कर्तृशून्यं न भवति"—प्रत्येक पदार्थकी अवस्था उस-उस पदार्थके बिना नहीं होती। सोना नहीं है और गहने बन गये, वस्तु नहीं है और अवस्था हो गई—ऐसा नहीं हो सकता। अवस्था है वह त्रैकालिक वस्तुको प्रगट करती है-प्रसिद्ध करती है कि यह अवस्था इस वस्तुकी है।

जैसे कि—जड़कर्मरूप पुद्गल होते हैं, वे कर्मपरिणाम कर्ताके बिना नहीं होते।

अब उनका कर्ता ?-तो कहते हैं कि-उस पुद्गलकर्मरूप परिणमित होनेवाले रजकण ही कर्ता हैं; आत्मा उनका कर्ता नहीं है।

—आत्मा कर्ता होकर जड़कर्मका बंध करे-ऐसा वस्तुस्वरूपमें नहीं है।

—जड़कर्म आत्माको विकार करायें-ऐसा वस्तुस्वरूपमें नहीं है।

—मंद कषायके परिणाम सम्यक्त्वका आधार हों—ऐसा वस्तुस्वरूपमें नहीं है।

—शुभरागसे क्षायिकसम्यक्त्व हो—ऐसा वस्तुस्वरूपमें नहीं है।

तथापि अज्ञानी ऐसा मानता है—यह सब तो विपरीत है-अन्याय है। भाई, तेरे यह अन्याय वस्तुस्वरूपमें सहन नहीं होंगे। वस्तुस्वरूपको विपरीत माननेसे तेरे आत्माको बहुत दुःख होगा,-ऐसी करुणा सन्तोंको आती है। सन्त नहीं चाहते कि कोई जीव दुःखी हो। जगतके सारे जीव सत्य स्वरूपको समझें और दुःखसे छूटकर सुख प्राप्त करें—ऐसी उनकी भावना है।

भाई! तेरे सम्यग्दर्शनका आधार तेरा आत्मद्रव्य है। शुभराग कहीं उसका आधार नहीं है। मन्दराग वह कर्ता और सम्यग्दर्शन उसका कार्य ऐसा त्रिकालमें नहीं है। वस्तुका जो स्वरूप है वह तीन कालमें आगे-पीछे नहीं हो सकता। कोई जीव अज्ञानसे उसे विपरीत माने उससे कहीं सत्य बदल नहीं जानता। कोई समझे या न समझे, सत्य तो सदा सत्यरूप ही रहेगा, वह कभी बदलेगा नहीं। जो उसे यथावत् समझेंगे वे अपना कल्याण कर लेंगे और जो नहीं समझेंगे उनकी तो बात ही क्या? वे तो संसारमें भटक ही रहे हैं।

देखो, वाणी सुनी इसलिये ज्ञान होता है न! परन्तु सोनगढ़वाले इन्कार करते हैं कि 'वाणीके आधारसे ज्ञान नहीं होता;'-ऐसा कहकर कुछ लोग कटाक्ष करते हैं, लेकिन भाई! यह तो वस्तुस्वरूप है; त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा भी दिव्यध्वनिमें यही कहते हैं कि—ज्ञान आत्माके आश्रयसे होता है, ज्ञान वह आत्माका कार्य है, दिव्यध्वनिके परमाणुका वह कार्य नहीं है। ज्ञान कार्यका कर्ता आत्मा है न कि वाणीके रजकण? जिस पदार्थके जिस गुणका जो वर्तमान हो वह अन्य पदार्थके या अन्य गुणके आश्रयसे नहीं होता। उसका कर्ता कौन?-कि वस्तु स्वयं। कर्ता और उसका कार्य दोनों एक ही वस्तुमें होनेका नियम है, वे भिन्न वस्तुमें नहीं होते।

यह लकड़ी ऊपर उठी सो कार्य है; यह किसका कार्य है?-कि कर्ताका कार्य; कर्ताके बिना कार्य नहीं होता। कर्ता कौन है?-कि लकड़ीके रजकण ही लकड़ीकी इस

अवस्थाके कर्ता हैं; यह हाथ, अँगुली या इच्छा उसके कर्ता नहीं हैं।

अब अन्तरका सूक्ष्म दृष्टान्त लें तो—किसी आत्मामें इच्छा और सम्यग्ज्ञान दोनों परिणाम वर्तते हैं; वहाँ इच्छाके आधारसे सम्यग्ज्ञान नहीं है। इच्छा सम्यग्ज्ञानकी कर्ता नहीं है। आत्मा ही कर्ता होकर उस कार्यको करता है। कर्ताके बिना कर्म नहीं है और दूसरा कोई कर्ता नहीं है; इसलिये जीव कर्ता द्वारा ज्ञानकार्य होता है। इस प्रकार समस्त पदार्थोंके सर्व कार्योंमें उस उस पदार्थका ही कर्तापना है—ऐसा समझना चाहिये।

देखो भाई, यह तो सर्वज्ञ भगवानके घरकी बात है; उसे सुनकर सन्तुष्ट होना चाहिये। अहा! सन्तोंने वस्तुस्वरूप समझाकर मार्ग स्पष्ट कर दिया है; सन्तोंने सारा मार्ग सरल और सुगम बना दिया है, उसमें बीचमें कहीं अटकना पड़े ऐसा नहीं है। परसे भिन्न ऐसा स्पष्ट वस्तुस्वरूप समझे तो मोक्ष हो जाये। बाहरसे तथा अन्तरसे ऐसा भेदज्ञान समझने पर मोक्ष हथेलीमें आ जाता है। मैं तो परसे पृथक् हूँ और मुझमें एक गुणका कार्य दूसरे गुणसे नहीं है-यह महान सिद्धान्त समझने पर स्वाश्रयभावसे अपूर्व कल्याण प्रगट होता है।

कर्म अपने कर्ताके बिना नहीं होता—यह बात तीसरे बोलमें कही; और चौथे बोलमें कर्ताकी (-वस्तुकी) स्थिति एकरूप अर्थात् सदा एक-समान नहीं होती परन्तु वह नये-नये परिणामोंरूपसे बदलता रहता है-यह बात कहेंगे। हर बार प्रवचनमें इस चौथे बोलका विशेष विस्तार होता है; इस बार दूसरे बोलका विशेष विस्तार आया है।

कर्ताके बिना कार्य नहीं होता यह सिद्धान्त है; वहाँ कोई कहे कि यह जगत सो कार्य है और ईश्वर उसका कर्ता है, तो यह बात वस्तुस्वरूपकी नहीं है। प्रत्येक वस्तु स्वयं ही अपनी पर्यायका ईश्वर है और वही कर्ता है, उससे भिन्न दूसरा कोई ईश्वर या अन्य कोई पदार्थ कर्ता नहीं है। पर्याय सो कार्य और पदार्थ उसका कर्ता।

### कर्ताके बिना कार्य नहीं और दूसरा कोई कर्ता नहीं।

कोई भी अवस्था हो—शुद्ध अवस्था, विकारी अवस्था या जड़ अवस्था, उसका कर्ता न हो ऐसा नहीं होता, तथा दूसरा कोई कर्ता हो-ऐसा भी नहीं होता।

—तो क्या भगवान उसके कर्ता हैं?

—हाँ, भगवान कर्ता अवश्य हैं, परन्तु कौन भगवान? अन्य कोई भगवान नहीं परन्तु यह आत्मा स्वयं अपना भगवान है, वही कर्ता होकर अपने शुद्ध-अशुद्ध परिणामोंको करता है। जड़के परिणामको जड़ पदार्थ करता है; वह अपना भगवान है। प्रत्येक

वस्तु अपनी-अपनी अवस्थाकी रचयिता ईश्वर है। स्वका स्वामी है परका स्वामी मानना मिथ्यात्व है।

संयोगके बिना अवस्था नहीं होती-ऐसा नहीं है; परन्तु वस्तु परिणमित हुए बिना अवस्था नहीं होती-ऐसा सिद्धान्त है। अपनी पर्यायके कर्तृत्वका अधिकार वस्तुका अपना है, उसमें परका अधिकार नहीं है।

इच्छारूपी कार्य हुआ उसका कर्ता आत्मद्रव्य है।

उस समय उसका ज्ञान हुआ, उस ज्ञानका कर्ता आत्मद्रव्य है।

पूर्व पर्यायमें तीव्र राग था इसलिये वर्तमानमें राग हुआ, इस प्रकार पूर्व पर्यायमें इस पर्यायका कर्तापना नहीं है। वर्तमानमें आत्मा वैसे भावरूप परिणमित होकर स्वयं कर्ता हुआ है। इसी प्रकार ज्ञानपरिणाम, श्रद्धापरिणाम, आनन्दपरिणाम उन सबका कर्ता आत्मा है पर कर्ता नहीं। पूर्वके परिणाम भी कर्ता नहीं तथा वर्तमानमें उसके साथ वर्तते हुए अन्य परिणाम भी कर्ता नहीं हैं—आत्मद्रव्य स्वयं कर्ता है। शास्त्रमें पूर्व पर्यायको कभी-कभी उपादान कहते हैं, वह तो पूर्व-पश्चात्‌की संधि बतलानेके लिये कहा है; परन्तु पर्यायका कर्ता तो उस समय वर्तता हुआ द्रव्य है, वही परिणामी होकर कार्यरूप परिणमित हुआ है। जिस समय सम्यग्दर्शनपर्याय हुई उस समय उसका कर्ता आत्मा ही है। पूर्वकी इच्छा, वीतरागकी वाणी या शास्त्र-वे कोई वास्तवमें इस सम्यग्दर्शनके कर्ता नहीं हैं।

उसी प्रकार ज्ञानकार्यका कर्ता भी आत्मा ही है। इच्छाका ज्ञान हुआ, वहाँ वह ज्ञान कहीं इच्छाका कार्य नहीं है और इच्छा वह ज्ञानका कार्य नहीं है। दोनों परिणाम एक ही वस्तुके होनेपर भी उनको कर्ता-कर्मपना नहीं है; कर्ता तो परिणामी वस्तु है।

पुद्‌गलमें खट्टी-खारी अवस्था थी और ज्ञानने तदनुसार जाना; वहाँ खट्टे-खारे तो पुद्‌गलके परिणाम हैं और पुद्‌गल उनका कर्ता है; तत्सम्बन्धी जो ज्ञान हुआ उसका कर्ता आत्मा है; उस ज्ञानका कर्ता वह खट्टी-खारी अवस्था नहीं है। कितनी स्वतंत्रता!! उसी प्रकार शरीरमें रागादि जो कार्य हो उसके कर्ता वे पुद्‌गल हैं, आत्मा नहीं; और उस शरीरकी अवस्थाका जो ज्ञान हुआ उसका कर्ता आत्मा है। आत्मा कर्ता होकर ज्ञानपरिणामको करता है परन्तु शरीरकी अवस्थाको वह नहीं करता।

यह तो परमेश्वर होनेके लिये परमेश्वरके घरकी बात है। परमेश्वर सर्वज्ञदेव कथित यह वस्तुस्वरूप है।

जगतमें चेतन या जड़ अनंत पदार्थ अनंतरूपसे नित्य रहकर अपने वर्तमान कार्यको करते हैं; प्रत्येक परमाणुमें स्पर्श-रंग आदि अनंत गुण; स्पर्शकी चिकनी आदि

अवस्था, रंगकी काली आदि अवस्था, उस-उस अवस्थाका कर्ता परमाणुद्रव्य है; चिकनी अवस्था वह काली अवस्थाकी कर्ता नहीं है।

इस प्रकार आत्मामें—प्रत्येक आत्मामें अनन्त गुण हैं; ज्ञानमें केवलज्ञानपर्यायरूप कार्य हुआ, आनन्दमें पूर्ण आनन्द प्रगट हुआ, उसका कर्ता आत्मा स्वयं है। मनुष्य-शरीर अथवा स्वस्थ शरीरके कारण वह कार्य हुआ ऐसा नहीं है; पूर्वकी मोक्षमार्गपर्यायके आधारसे वह कार्य हुआ-ऐसा भी नहीं है; ज्ञान और आनन्दके परिणाम भी एक-दूसरेके आश्रित नहीं हैं; द्रव्य ही परिणमित होकर उस कार्यका कर्ता हुआ है। भगवान आत्मा स्वयं ही अपने केवलज्ञानादि कार्यका कर्ता है, अन्य कोई नहीं।—यह तीसरा बोल हुआ।

## (४) वस्तुकी स्थिति सदा एकरूप (–कूटस्थ) नहीं रहती।

सर्वज्ञदेव द्वारा देखा हुआ वस्तुका स्वरूप ऐसा है कि वह नित्य अवस्थित रहकर प्रतिक्षण नवीन अवस्थारूप परिणमित होता रहता है। पर्याय बदले बिना ज्योंका त्यों कूटस्थ ही रहे-ऐसा वस्तुका स्वरूप नहीं है। वस्तु द्रव्य-पर्यायस्वरूप है, इसलिये उसमें सर्वथा अकेला नित्यपना नहीं है, पर्यायसे परिवर्तनपना भी है। वस्तु स्वयं ही अपनी पर्यायरूपसे पलटती है, कोई दूसरा उसे परिवर्तित करे—ऐसा नहीं है। नयी-नयी पर्याय-रूप होना वह वस्तुका अपना स्वभाव है, तो कोई उसका क्या करेगा? इन संयोगोंके कारण यह पर्याय हुई;—इस प्रकार संयोगके कारण जो पर्याय मानता है उसने वस्तुके परिणमनस्वभावको नहीं जाना है, दो द्रव्योंको एक माना है। भाई, तू संयोगसे न देख, वस्तुस्वभावको देख। वस्तुस्वभाव ही ऐसा है कि वह नित्य एकरूप न रहे। द्रव्यरूपसे एकरूप रहे परन्तु पर्यायरूपसे एकरूप न रहे, पलटता ही रहे—ऐसा वस्तुस्वरूप है।

इन चार बोलोंसे ऐसा समझाया है कि वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कार्यकी कर्ता है-यह निश्चित सिद्धान्त है।

इस पुस्तकका पृष्ठ पहले ऐसा था और फिर पलट गया; वहाँ हाथ लगनेसे पलटा हो ऐसा नहीं है; परन्तु उन पृष्ठोंके रजकणोंमें ही ऐसा स्वभाव है कि सदा एकरूप उनकी स्थिति न रहे; उनकी अवस्था बदलती रहती है; इसलिये वे स्वयं पहली अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्थारूप हुए हैं, दूसरेके कारण नहीं। वस्तुमें भिन्न-भिन्न अवस्था होती ही रहती है; वहाँ संयोगके कारण वह भिन्न अवस्था हुई—ऐसा अज्ञानीका भ्रम है, क्योंकि वह संयोगको ही देखता है परन्तु वस्तुस्वभावको नहीं देखता। वस्तु स्वयं परिणमनस्वभावी है, इसलिये वह एक ही पर्यायरूप नहीं रहती;—ऐसे स्वभावको जाने तो किसी संयोगसे अपनेमें या अपनेसे परमें परिवर्तन होनेकी बुद्धि छूट जाये और स्वद्रव्यकी ओर देखना रहे, इसलिये मोक्षमार्ग प्रगट हो।

पानी पहले ठंडा था और चूल्हे पर आनेके बाद गर्म हुआ, वहाँ उन रजकणोंका ही ऐसा स्वभाव है कि उनकी सदा एक अवस्थारूप स्थिति न रहे; इसलिये वे अपने स्वभावसे ही ठंडी अवस्थाको छोड़कर गर्म अवस्थारूप परिणमित हुए हैं; इस प्रकार स्वभावको न देखकर अज्ञानी संयोगको देखता है कि-अग्निके आनेसे पानी गर्म हुआ। यहाँ आचार्यदेवने चार बोलों द्वारा स्वतंत्र वस्तुस्वरूप समझाया है; उसे समझ ले तो कहीं भ्रम न रहे।

एक समयमें तीनकाल—तीनलोकको जाननेवाले सर्वज्ञ परमात्मा वीतराग तीर्थंकर-देवकी दिव्यध्वनिमें आया हुआ यह तत्त्व है और सन्तोंने इसे प्रगट किया है।

वर्फके संयोगसे पानी ठंडा हुआ और अग्निके संयोगसे गर्म हुआ—ऐसा अज्ञानी देखता है, परन्तु पानीके रजकणोंमें ही ठंडी-गर्म अवस्थारूप परिणमित होनेका स्वभाव है उसे अज्ञानी नहीं देखता। भाई! वस्तुका स्वरूप ऐसा ही है कि अवस्थाकी स्थिति एकरूप न रहे। वस्तु कूटस्थ नहीं है परन्तु बहते हुए पानीकी भाँति द्रवित होती है—पर्यायको प्रवाहित करती है; उस पर्यायका प्रवाह वस्तुमेंसे आता है, संयोगमेंसे नहीं आता। भिन्न प्रकारके संयोगके कारण अवस्थाकी भिन्नता हुई, अथवा संयोग बदले इसलिये अवस्था बदल गई—ऐसा भ्रम अज्ञानीको होता है, परन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। यहाँ चार बोलों द्वारा वस्तुका स्वरूप एकदम स्पष्ट किया है।

१-परिणाम ही कर्म है।

२-परिणामी वस्तुके ही परिणाम हैं, अन्यके नहीं।

३-वह परिणामरूपी कर्म कर्ताके बिना नहीं होता।

४-वस्तुकी स्थिति एकरूप नहीं रहती।

—इसलिये वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्मकी कर्ता है—यह सिद्धांत है।

इन चारों बोलोंमें तो बहुत रहस्य भर दिया है। उसका निर्णय करनेसे भेदज्ञान तथा द्रव्यसन्मुखदृष्टिसे मोक्षमार्ग प्रगट होगा।

प्रश्नः—संयोग आये तदनुसार अवस्था बदलती दिखायी देती है न?

उत्तरः—यह बराबर नहीं है; वस्तुस्वभावको देखनेसे ऐसा दिखायी नहीं देता; अवस्था बदलनेका स्वभाव वस्तुका अपना है ऐसा दिखायी देता है। कर्मका मंद उदय हो इसलिये मंद राग और तीव्र उदय हो इसलिये तीव्र राग—ऐसा नहीं है; अवस्था एकरूप नहीं रहती परन्तु अपनी योग्यतासे मंद-तीव्ररूपसे बदलती है-ऐसा स्वभाव वस्तुका अपना है, वह कहीं परके कारण नहीं है।

भगवानके निकट जाकर पूजा करे या शास्त्र-श्रवण करे उस समय अलग परिणाम होते हैं, और घर पहुँचने पर अलग परिणाम हो जाते हैं; तो क्या संयोगके कारण वे

परिणाम बदले ? नहीं; वस्तु एकरूप न रहकर उसके परिणाम बदलते हैं—ऐसा ही उसका स्वभाव है; उन परिणामोंका बदलना वस्तुके आश्रयसे ही होता है, संयोगके आश्रयसे नहीं। इस प्रकार वस्तु स्वयं अपने परिणामकी कर्ता है—यह निश्चित सिद्धान्त है। इन चार बोलोंके सिद्धान्तानुसार वस्तुस्वरूपको समझे तो मिथ्यात्वकी जड़ उखड़ जायँ और पराश्रितबुद्धि छूट जाये। ऐसे स्वभावकी प्रतीति होनेसे अर्थात् स्व-वस्तु पर लक्ष जाता है और सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। सम्यग्ज्ञानपरिणामका कर्ता आत्मा स्वयं है। पहले अज्ञानपरिणाम भी वस्तुके ही आश्रयसे थे और अब ज्ञानपरिणाम हुए वे भी वस्तुके ही आश्रयसे हैं।

मेरी पर्यायका कर्ता दूसरा कोई नहीं है, मेरा द्रव्य ही परिणमित होकर मेरी पर्यायका कर्ता होता है—ऐसा निश्चय करनेसे स्वद्रव्य पर लक्ष जाता है और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान होता है। अब, उस काल कुछ चारित्रदोषसे रागादि परिणाम रहे वह भी अशुद्ध निश्चयनयसे आत्माका परिणमन होनेसे आत्माका कार्य है—ऐसा धर्मी जीव जानता है; उसे जाननेकी अपेक्षासे व्यवहारनयको उस कालमें जाना हुआ प्रयोजनवान कहा है। धर्मीको द्रव्यका शुद्धस्वभाव लक्षमें आ गया है इसलिये सम्यक्त्वादि निर्मल कार्य होते हैं और जो राग शेष रहा है उसे भी वे अपना परिणमन जानते हैं परन्तु अब उसकी मुख्यता नहीं है, मुख्यता तो स्वभावकी हो गई है। पहले अज्ञानदशामें मिथ्यात्वादि परिणाम थे वे भी स्वद्रव्यके अशुद्ध उपादानके आश्रयसे ही थे; परन्तु जब निश्चित् किया कि मेरे परिणाम अपने द्रव्यके ही आश्रयसे होते हैं तब उस जीवको मिथ्यात्वपरिणाम नहीं रहते; उसे तो सम्यक्त्वादिरूप परिणाम ही होते हैं। अब जो रागपरिणमन साधक-पर्यायमें शेष रहा है उसमें यद्यपि उसे एकत्वबुद्धि नहीं है तथापि वह परिणमन अपना है—ऐसा वह जानता है। ऐसा व्यवहारका ज्ञान उस काल प्रयोजनवान है। सम्यग्ज्ञान होता है तब निश्चय-व्यवहारका स्वरूप यथार्थ ज्ञात होता है, तब द्रव्य-पर्यायका स्वरूप ज्ञात होता है, तब कर्ता-कर्मका स्वरूप ज्ञात होता है और स्वद्रव्यके लक्षसे मोक्षमार्गरूप कार्य प्रगट होता है; उसका कर्ता आत्मा स्वयं है।

—इस प्रकार इस २११ वें कलशमें आचार्यदेवने चार बोलों द्वारा स्पष्टरूपसे अलौकिक वस्तुस्वरूप समझाया है; उसका विवेचन पूर्ण हुआ।

इति स्वतंत्रताकी घोषणा पूर्ण

* जय जिनेन्द्र *

